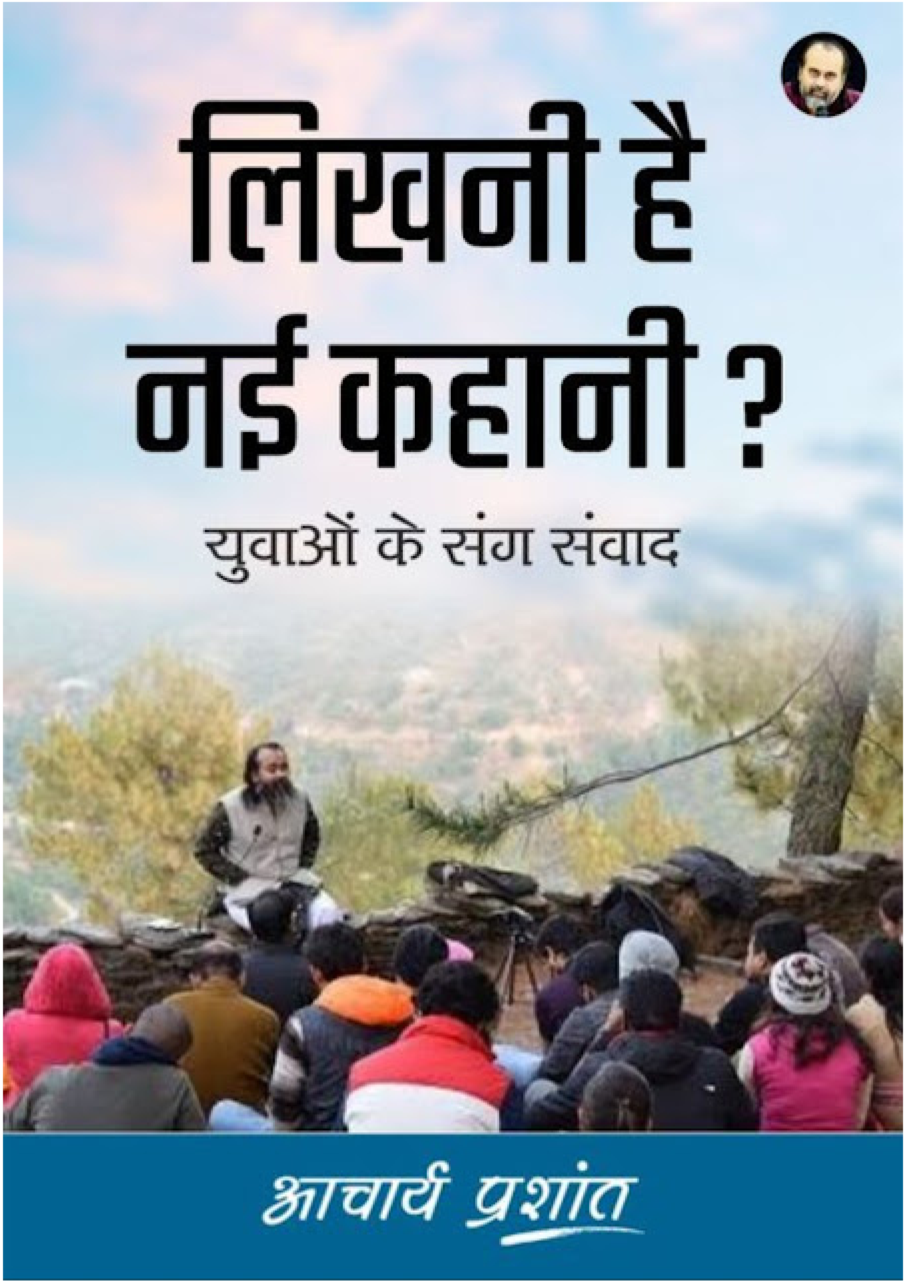


लिखनी है नई कहानी ?

आचार्य प्रशांत

अनुक्रमणिका

✿ ✿ ✿ ✿

मन ग़लत दिशा में क्यों भागता है?

आचार्य प्रशांत: दिनेश का सवाल है कि मन सभी का अधिकतर गलत कार्यों की तरफ ही क्यों भागता है। मन कैसे ऐसा कर ले कि उधर को ना जाए?

यदि मन को साफ़-साफ़ पता ही हो कि कुछ गलत है, तो उधर जाएगा नहीं। मन उधर को ही जाता है जिसके सही होने की तुमने उसे गहरी शिक्षा दे रखी होती है। पहले तो इस यकीन को, इस मान्यता को निकाल दो मन से कि मन गलत तरफ की ओर आकर्षित होता है। मन गलत की ओर आकर्षित नहीं होता। मन उधर को ही जाता है जिधर जाने में सुख है। ये तुमने उसे बता रखा है। मन का अपना कुछ होता नहीं। मन तो एक खाली जगह होती है जिसमें वही सब भर जाता है जो तुम भरने देते हो। मन तो लगा लो एक खाली डब्बे की तरह है या एक खाली कंप्यूटर की तरह है। उसमें सॉफ्टवेयर तुम डालते हो। मन को पूरी ट्रेनिंग तुम देते हो। मन में सारे संस्कार, कंडीशनिंग तुम भरते हो। अब दिक्कत ये आती है कि तुम्हीं ने वो संस्कार उसमें भरे, और एक दूसरे मौके पर तुम देखते हो कि ये संस्कार तुम्हें नुकसान पहुँचा रहे हैं। तुम कहते हो कि ये तो गलत दिशा है। यही तुम मुझसे सवाल पूछ रहे हो कि मन गलत

दिशा में क्यों भागता है। अरे, वो दिशा गलत है ही नहीं। तुम्हीं ने तो उसे सिखाया है।

एक उदाहरण देता हूँ। एक छात्र है, वो पढ़ रहा है। उससे पूछो कि, "पढ़ क्यों रहा है?" तो उसको ये सिखाया गया है, और उसने ये बात स्वीकार कर ली है कि पढ़ा इसलिए जाता है ताकि परिणाम अच्छा आए। और ये बात उसने मान ली है। इस शिक्षा को उसने अपने अंदर बैठा लिया है कि पढ़ा इस हेतु जाता है कि परिणाम आ जाए। ठीक? मैं अब उससे पूछूँ कि, "परिणाम तुझे अच्छा क्यों चाहिए?" तो वो ये कहेगा कि, "परिणाम इसलिए अच्छा चाहिए ताकि अंततः नौकरी लग जाए।" ये बात भी वो लेकर पैदा नहीं हुआ था। ये बात भी उसके भीतर डाल दी गई है, और उसने स्वीकार कर ली है कि शिक्षा इसलिए होती है ताकि अंततः नौकरी लग जाए। अब उसने ये बात मान ली है।

"अच्छा तुझे नौकरी क्यों चाहिए?"

"सर, पैसे मिलेंगे।"

ये बात भी वो लेकर पैदा नहीं हुआ था। ये बात भी उसके भीतर डाल दी गई है कि काम इसलिए किया जाता है ताकि पैसे मिलें।

"चलो आत्मबल ठीक है। पैसों का क्या करोगे? खाना-पीना हो जाएगा। खाना-पीना तो अब भी हो रहा है जब तुम कमाते नहीं। तो नौकरी वाले पैसे क्यों चाहिए, ठीक ठीक बताओ?"

"वो थोड़ा ज़िंदगी ज़्यादा मस्त हो जाएगी, रंगीन हो जाएगी, मौज-मस्ती करेंगे।"

"अच्छा क्या करोगे मौज मस्ती में?"

"सर, ऐसे ही थोड़ा मनोरंजन, इधर-उधर घूमेंगे।"

"नहीं नहीं ऐसे नहीं, थोड़ा खुलकर बाताओ। मौज-मस्ती का तुम्हारा अर्थ क्या है? तुमने क्या सीख लिया है? ये खाली शब्द नहीं, इनमें कुछ भरा हुआ है। तुम किसको कहते हो ‘मौज मस्ती’?"

"सर, मैं कभी गोवा नहीं गया। नौकरी लगेगी, पैसे आएँगे, तो मैं गोवा जाऊँगा।"

"अच्छा गोवा जाओगे, ये तो अच्छी बात है। गोवा में सुन्दर-सुन्दर चर्च हैं और मंदिर हैं वहाँ जाना चाहते हो?"

"अरे क्या बात कर रहे हो सर आप। मंदिर तो मेरे गाँव में भी हैं। गोवा कोई मंदिर के लिए जाता है!"

अब ये बात भी उसने सीखी है कि मस्ती का अर्थ है गोवा जाना। और गोवा में क्या करना? अभी पूछ रहा हूँ मैं उससे। "हाँ बताओ, गोवा में क्या करोगे?"

"सर, समुद्र है।"

"तो क्या करना है? डूब जाना है, गोतें मारनी हैं? करना क्या है ठीक-ठीक बताओ?"

"सर समुद्र है तो वहाँ बीच भी होता है।"

"हाँ, बीच होता है तो अच्छी बात है। तो बीच माने रेत। रेत तो दीवार में भी होती है। तो क्या करोगे उसका?"

"सर, वो बीच पर नाचने में बड़ा मज़ा आता है। वो फिल्मों में देखा है, बीच पर नाचते हैं। बड़ा अच्छा लगता है।"

अब ये सब तुमने मन में बैठाया है कि इसी को तो सुख कहते हैं। सुख क्या है? बीच में जाकर नाचना; यही सुख है। बात समझ रहे हो? गलत दिशा मत बोलना। ये बात तुमने मन में बैठ जाने दी है कि पढ़ रहा हूँ तो परिणाम आए, परिणाम आए ताकि नौकरी लगे, नौकरी लगे तो पैसा आए, पैसा आए तो अय्याशी करूँ, अय्याशी करूँ, तो बीच पर जाऊँ, बीच पर जाऊँ तो नाचूँ। तो अंततः तुम्हारे लिए परम सुख क्या है? वहाँ बीच पर नाचना। अब तुम पढ़ने बैठे हो। ठीक है? यहाँ पर बगल में टी.वी. रखा है, और टी.वी. पर उसी तरीके के गाने चल रहे हैं बीच पर नृत्य हो रहे है। तुम हो, माहौल है। अब परमसुख क्या है? वही। तुमने ही अपने मन को संस्कारित कर रखा है कि वही परमसुख है। तो जब वही परमसुख है, तो आदमी पढ़े क्यों ? किताब बंद हो जाएगी। तुम उधर देखने लगोगे। पर तब तुम क्या कहोगे कि मन गलत दिशा में भाग रहा है?

मन गलत दिशा में नहीं भाग रहा। मन ठीक वहीं को जा रहा है जहाँ जाने की तुमने उसे शिक्षा दे रखी है। जब तुम मन को लगातार यही शिक्षा देते हो कि अय्याशी ही सुख है। तो मन अय्याशी की तरफ भागे तो इसमें ताज्जुब क्या है? फिर क्यों परेशान होते हो कि मन उधर को ही भाग रहा है? तुम उसे दिन-रात शिक्षा वही देते हो। तुम सड़क पर निकलते हो, तुम देखते हो किसी नेता का काफिला चला जा रहा है, वहाँ साथ में हथियारबंद लोग हैं, तुम कहते हो कि, "यही जीवन का परम उत्कर्ष है। ये मिल जाए तो इससे ऊँचा कुछ नहीं हो सकता।" अब अगर तुम किताब पढ़ रहे हो और उसी तरह का दृश्य आने लग जाए रेडियो में, टी.वी. में या सामने अखबार में दिख जाए या इंटरनेट में दिखने लगे और तुम्हारा मन उधर को ही भागे, तो अब उसमें क्या आश्चर्य है?

जबसे पैदा हुए तुम्हें कहा गया कि पैसा बड़ी बात है। अब पैसे से जितनी सुख-सुविधाएँ आ सकती हैं, जितना वैभव और ऐश्वर्य आ सकता है, वो बड़ी बात है। तुम यहाँ बैठे हो और तुम्हारा मन बार-बार ये करे कि, "शॉपिंग मॉल में चला जाऊँ!" तो इसमें क्या ताज्जुब है? क्योंकि पैसा तो तुम्हें वहीं पर बिखरा दिख रहा है और पैसे से जो कुछ हो सकता है, वो भी दिख रहा है। तो अब हॉस्टल में बैठने का मन कहाँ करेगा? मन कहेगा कि, "चलो उधर ज़रा घूम कर आते हैं। खूब रौशनी है, चिकना फर्श है, सुन्दर चेहरे हैं।" ये सब शिक्षा तुमने ही दी है अपने-आपको।

तो जो लोग चाहते हैं कि मन उनके साथ रहे, उन्हें मन की पूरी शिक्षा ही बदलनी पड़ेगी। मन के ये जो गहरे संस्कार हैं, इनको बदलना पड़ेगा। तुमने झूठी बातों को अपने मन में महत्व दे रखा है। और जब तक मन में उन्हीं को महत्व दिए रहोगे, तब तक जीवन वैसा ही चलेगा जैसा चल रहा है- बिखरा-बिखरा सा- कि चलते उधर को हो और पाँव उधर को बहकते हैं। समझ में आ रही है बात? एक आम आदमी परमसुख किसको मानता है, ये बड़ी आसानी से देखा जा सकता है। फिल्में आती हैं, एक ऊँची-से-ऊँची और अच्छे-से-अच्छी फिल्म आएगी और वो उसी मल्टीप्लेक्स में लगी होगी जिसमें एक दो-कौड़ी की सस्ती मसाला फिल्म लगी हुई है, और वो मसाला फिल्म खूब चल रही होगी, और दो-सौ करोड़ का व्यापार कर रही होगी। क्योंकि जो आम आदमी है उसने परमसुख मान ही इसी बात को रखा है कि बद्तमीज़ियाँ हो रही हों, अश्लीलताएँ दिखाई जा रही हों, नंगे नाच चल रहे हों। तो जब तुम उन्हीं बातों को सुख मानते हो, तो तुम्हारा मन किसी और दिशा में लगेगा कैसे? और तुम किसी भी दिशा में चलोगे मन तुम्हारा उड़-उड़ कर उधर को ही जाएगा, जैसे कोई कौआ हो। मन क्यों कौए जैसा कर रखा है? बात मज़ाक से आगे जाती है, बात को समझो।

हमारा मन पूरे तरीके से कौए जैसा हो गया है। तुम उसके सामने शुद्ध पानी रख दो और बगल में किसी नाले का गन्दा बदबूदार पानी हो, तुम अच्छे से जानते हो कौआ कहाँ जाएगा। तो क्यों कौए जैसे हो गए हो? और तुम कौए पैदा नहीं हुए थे। तुम्हारी नियति थोड़े ही थी कि तुम ऐसे रहो कि जिधर गंदगी है उधर को ही चल दिए। ये सब काम तुम मक्खियों के लिए छोड़ो, कौए के लिए छोड़ो। तुम्हारा पूरा शरीर स्वस्थ होगा, पर उस पूरे स्वस्थ शरीर में कहीं एक थोड़ा-सा मवाद हो, फोड़ा हो, तो मक्खी को क्या दिखाई देगा? तुम्हारे पूरे साफ़ शरीर में कहीं नहीं बैठेगी। वो कहाँ जाकर बैठ जाएगी? वहीं जहाँ गन्दगी है। हम भी ऐसे ही हो गए हैं। अभी मैं यहाँ पर चित्रों का एक समूह लगा दूँ। कोलाज जानते हो? चित्रों का समूह जिसमें बहुत सारे चित्र हों। यहाँ पर बहुत सारे छोटे-छोटे चित्र लगा दूँ। और वो चित्र वैज्ञानिकों के हो सकते हैं, संतों के हो सकते हैं, दार्शनिकों के हो सकते हैं, खोज करनेवालों के हो सकते हैं। और उनके बीच में एक घटिया सा नग्न चित्र लगा दूँ , तुम अच्छे से जानते हो कि तुम्हारी आँख कहाँ जाकर ठहर जाएगी। बात सच है कि नहीं है? तुम्हें और कुछ दिखाई ही नहीं पड़ेगा। तुम्हारी आँख बस एक जगह जा कर टिक जाएगी, जैसे अर्जुन का तीर। बाकि सब दिखाई ही नहीं देता। और फिर मुझसे सवाल करोगे कि मन गलत दिशा की ओर क्यों जाता है। अरे गलत कहाँ है? तुम्हें जाना ही वहाँ है।

एक छात्र आया और बोलता है कि, "मैं रात में पढ़ने बैठता हूँ, पर पढ़ नहीं पाता।" मैंने पूछा कि, "समस्या क्या है? सही-सही बताओ।" उसने कहा कि, "मैं रात में पढ़ने बैठता हूँ, पर पढ़ नहीं पाता।" मैंने कहा कि, "फिर करते क्या हो वो बताओ। पढ़ते नहीं हो तो कुछ और करते होंगे।" बोलता है कि, "सर, वो टी.वी. है घर में।" मैंने बोलो कि, "क्या टी.वी. कूद कर आता है तुम्हारे ऊपर? टी.वी. से क्या समस्या है?" बोलता है, "सर उसमें वो वाला भी चैनल आता है।" मैंने पूछा कि, "कुल कितने चैनल हैं टी.वी. में?" बोलता है कि, "सौ से ऊपर हैं।" मैंने बोला कि, "तुम कितने चैनल पसंद करते हो?" कहता है, "दो।" माने एक-सौ-दो चैनल में जो बाकि सौ हैं, वो तुम्हें दिखाई नहीं पड़ते। इन दो पर जाकर तुम बार-बार बैठते हो। और कह रहे हो कि टी.वी. समस्या है। टी.वी. कैसे समस्या है? तुम अपने मन को देखो जिसे एक-सौ-दो में यही दो दिखाई पड़ते हैं। तुमने क्यों दी अपने मन को ऐसी शिक्षा?

कबीर का एक दोहा है जिसे मैं अकसर कहता हूँ। तुमसे भी कह देता हूँ-

"पहले तो मन काग था, करता जीवन घात,

अब मनवा हंसा भया, मोती चुन-चुन खात।"

पहले मन कौए जैसा था। अपने ही जीवन को ख़त्म किये दे रहा था। अब मन हंस जैसा हो गया है, मोती चुन-चुन कर खाता है। गन्दगी की ओर जाता ही नहीं। कितनी ही गन्दगी पड़ी हो, मन मेरा उधर को जाता ही नहीं।

मैं तुम्हें चुनौती दे रहा हूँ, मैं तुम्हें आमंत्रण दे रहा हूँ कि क्या तुम अपना मन ऐसा बना सकते हो जो मोती ही चुन-चुन कर खाए और गन्दगी की ओर जाए ही नहीं? अब ये तुम्हारे ऊपर है। अगर कौए जैसे रहोगे, तो इस पर बोल दिया है कबीर ने, "करता जीवन घात।" अपना ही जीवन ख़राब कर रहे हो। अपना ही जीवन घात कर रहे हो। आ रही है बात समझ में?

....

(उत्तर प्रदेश, 2014)

अभिभावकों से स्वस्थ सम्बन्ध

आचार्य प्रशांत: तुम जो कुछ भी कर रहे हो तुम देखना उसको कि ये मैं सतह पर कर रहा हूँ या स्रोत पर कर रहा हूँ? सतही काम क्या होता है?

प्रश्नकर्ता: जो बाहर से आ रहा हो।

आचार्य: जो बाहरी घटनाओं से प्रभावित होकर आ रहा हो। जो स्रोत से निकल रहा हो उसकी क्या पहचान है?

प्र: समय का पता नहीं लगेगा जब कर रहे होंगे।

आचार्य: एक तो समय का पता नहीं लगेगा और दूसरा कि उसे मैं अच्छे तरीके से समझता होऊँगा। उसको मैं ऐसा समझता होऊँगा कि फिर कोई मुझसे लाख तर्क कर ले, मैं तब भी हिलूँगा नहीं। वो बात मैंने किसी से ली नहीं होगी, वो बात मेरी अपनी होगी।

प्र: सर, पर जो बड़े बोलते हैं वो भी तो करना पड़ेगा।

आचार्य: बेटा अब तुम भी बड़े हो। एक कहावत है कि जब बाप का जूता बेटे को आने लगे तो बड़े-छोटे का कोई भेद नहीं रह जाता, वो दोस्त हो जाते हैं। अब तुम कोई बारह साल के थोड़े ही हो कि तुम कहो कि बड़े कह रहे हैं तो करना ही है। तुम्हारी तो अब वो हालत है कि तुम उन बड़ो को सहारा दो। तुम न अब दो साल के हो, न बारह साल के हो, तुम बाईस साल के हो। तुम्हें अब ये थोड़े ही कहना है कि मुझे बड़ों का सहारा लेना है, तुम्हें तो उनको सहारा देना है।

प्र: पर उनकी मर्ज़ी के बिना?

आचार्य: तुम्हारी मर्ज़ी के बिना भी तो कुछ नहीं हो सकता या तुम्हारी मर्ज़ी बेकार है? जब तुम बात करते हो मर्ज़ी की तो समझना जिसको हम अपनी मर्ज़ी कहते हैं वो क्या होता है? वो बाहर से आई हुई एक मान्यता होती है। तो उनकी भी अपनी कोई मर्ज़ी नहीं है, उन्होंने भी किसी से सुन लिया है। जैसे तुम आज कह रहे हो ना कि बड़ों के सामने क्या करें? वैसे ही उनके पास भी बड़े थे, उन्होंने भी यही मज़बूरी अनुभव की थी कि बड़ों के सामने क्या करें। उनके पास भी अपनी कोई मर्ज़ी नहीं है, उन्होंने भी कहीं से सुन रखा है और अगर तुम्हें उनसे प्रेम है तो प्रेम का ये दायित्व है कि तुम उनको भी सच दिखाओ, तुम उनकी मदद करो। तुम ये न कहो कि मैं तो अभी बच्चा हूँ, तुम कहो कि मैं जवान हूँ, बड़ा हूँ, अपने पाँव पर खड़ा हूँ, मुझे कुछ दिखाई दे रहा है और मैं चाहता हूँ कि आप भी वो देखें।

प्र: पर बड़े तो हमेशा ही बड़े रहेंगे ना।

आचार्य: किस आशय में बड़े रहेंगे?

प्र: अनुभव में।

आचार्य: उम्र में; तुम ये कहना चाहते हो कि उनकी उम्र तो हमसे हमेशा ही ज्यादा रहेगी।

प्र: सर, उम्र की बात नहीं है।

आचार्य: अनुभव तो उम्र ही है। क्या तुम कभी ये कहते हो कि कम उम्र के बन्दे को ज्यादा अनुभव है?

बेटा, उम्र से कुछ नहीं हो जाता। उम्र और अनुभव दोनों ही बिलकुल व्यर्थ बातें हैं। एक बात बताओ मुझे कि तुम पचास साल तक सोते रहो तो उससे तुममे बड़ा ज्ञान उठ जाएगा? समय तो बीता, पचास साल तो बीते, पर तुमने

देखा क्या है? तुम तो सोते ही रह गए। तुम्हारी आँखें तो बंद ही रहीं, तुम मान्यताओं में ही घिरे रहे। उम्र के बढ़ने से क्या हो जाता है? जानते हो दुनिया के आम आदमी की औसत मानसिक उम्र कितनी है? तेरह साल। आदमी का शारीरिक विकास तो हो रहा होता है पर उसका दिमाग ठस पड़ा होता है। एक बात गौर से समझ लो कि उम्र को और अनुभव को बिलकुल महत्व मत देना। न उम्र का महत्व है, न अनुभव का महत्व है। महत्व है बोध का, महत्व है तुम्हारी जाग्रति का और जाग्रति समय की मोहताज नहीं होती है।

तुम जिस भूमि पर बैठे हो, वहाँ तो उम्र को बिलकुल ही महत्व नहीं दिया गया। बुद्ध के पिता आ कर बुद्ध के चरण स्पर्श करते हैं। गीता है अष्टावक्र की जिसमें अष्टावक्र राजा जनक को उपदेश दे रहे हैं और अष्टावक्र की उम्र उस समय मुश्किल से ग्यारह-बारह साल की है। उम्र की क्या कीमत है? जिस भूमि पर तुम बैठे हो ना, इसने उम्र को कभी कोई कीमत नहीं दी, इसने बोध को कीमत दी है।

प्र: कई बार हमें अपने माँ-बाप के फैसलों के आगे झुकना पड़ता है, चाहे हमारा फैसला सही ही हो।

आचार्य: तुम्हें झुकना इसीलिए पड़ता है क्योंकि तुम्हारे मन में लालच और स्वार्थ है, अन्यथा तुम्हें कौन झुका सकता है। तुम कुछ सुविधाओं के मोहताज हो और तुम नहीं चाहते कि तुमसे वो सुविधाएँ छीन जाएँ; इस कारण तुम झुकते हो। बिना तुम्हारी सहमति के तुम्हें कोई झुका नहीं सकता। तुम्हारी सहमति है उस झुकने में। कौन तुम्हें गुलाम बना सकता है बिना तुम्हारी रजामंदी के? तुम्हें दो-चार छोटी-मोटी चीजें मिल रही हैं और उन चीजों की खातिर तुम अपनी स्वतंत्रता बेच देते हो। झुकने का और कोई कारण नहीं है। कोई तुम्हें मार-पीट कर झुकाता है? तुम खुद ही तो झुकते हो ना? तुम झुकते इसिलए हो ताकि तुम्हारी सुविधाएँ न छीन जाएँ, ताकि तुम्हारे सहारे न छीन जाएँ। तुमने अपनेआप को छोटा और कमज़ोर मान रखा है इसीलिए तुम झुकते हो। अन्यथा कोई कारण नहीं है झुकने का और जब मैं कह रहा हूँ कि झुको नहीं तो मैं ये नहीं कह रहा कि लड़ जाओ। मैं कह रहा हूँ कि सत्य पर अडिग रहो। मैं हिंसात्मक हो जाने के लिए नहीं कह रहा हूँ। मैं कह रहा हूँ कि सत्य से मत हटो।

प्र: दूसरा नहीं मान रहा तो?

आचार्य: तुम दूसरे को मनवा भी नहीं रहे। तुम बस अपनी जगह पर कायम रहो।

प्र: तो उससे तो कुछ मिलेगा ही नहीं।

आचार्य: यही तो बात है कि तुम मुनाफे की तलाश में हो।

प्र: सर, मेरे बारहवीं में 85% आए थे। तो मुझे नॉएडा पढ़ना था, पर घरवालों ने दाखिला नहीं दिलवाया, कोई पैसों की दिक्कत नहीं थी, कुछ नहीं था फिर भी नहीं दिलवाया। उन्होंने कहा की मुरादाबाद ही पढ़ना है।

आचार्य: क्यों?

प्र: उन्होंने घर से दुर नहीं जाने देना था।

आचार्य: तुम अगर घर से निकलते कि मैं जा रहा हूँ नॉएडा की ओर, तो निकल जाते, कौन रोक सकता था। हाईवे है, बस चलती हैं, तुम बैठ गए, पहुँच गए। तुम्हें दाखिला मिल गया है ना?

प्र: हाँ।

आचार्य: तुम्हें दाखिला मिल गया है तो कौन रोक सकता था? तुमने ये क्यों नहीं किया?

प्र: माँ-बाप का साथ नहीं था।

आचार्य: अरे! साथ का क्या मतलब है। तुम्हें जाके बैठना है और पढ़ना है। यहाँ माँ-बाप बैठे हैं क्या साथ में? तुम घर

से निकलते, आते और पढ़ने लग जाते। तुम्हें कौन रोक सकता था?

प्र: दो लाख फीस कौन देता?

आचार्य: उसके लिए बैंक है। मैं आई.आई.टी और आई.आई.एम में पढ़ा हूँ और वहाँ जिन बच्चों का दाखिला होता है, उनके माँ-बाप हँसते – हँसते दो लाख क्या, २० लाख दे दे, पर मेरे पुरे बैच में शायद ही कोई रहा हो जिसने माँ-बाप से पैसे लिए हो पढाई के। सबने बैंक लोन लिया था क्योंकि वो अपनी खुद्दारी थी, उनकी अपनी आज़ादी की बात थी। घर से आसानी से पैसे मिल रहे थे, पर सबने बैंक लोन लिया। मुझे ये देख के बड़ा ताजुब होता है की आई.आई.टी और आई.आई.एम वाले बैंक लोन लेके पढ़ते हैं और यहाँ आता हूँ तो लोग बोलते हैं की घर से पैसे नहीं लूँगा तो पढूंगा कैसे? अच्छी यूनिवर्सिटी है ना जिसमे पढ़ना चाहते थे। उन यूनिवर्सिटीज में पढने के लिए तो तुम्हें तुरंत बैंक लोन मिल जाता। पता है बैंक वाले कैंपस में आके अपनी कैनोपी लगाते हैं की यहाँ से ही लोन ले लो और अगर जहाँ तुम्हें दाखिला मिला है वहाँ का अच्छा रिकॉर्ड है तो सिक्यूरिटी भी नहीं मांगते हैं। तुमने क्यों नहीं की पढाई?

तुम्हारी मर्ज़ी के बिना किसी ने नहीं रोका है। तुम खुद रुकना चाहते थे। मैं अपना उदाहरण देता हूँ। मैंने 17 की उम्र से 24 की उम्र तक पढाई की है और मैंने घर से एक पैसा नहीं लिया। ऐसा नहीं की मेरी घरवालों से लड़ाई थी। मेरी माँ को प्यार था मुझसे तो वो मेरे सूटकेस में, मेरी जेबों में 500 के नोट डाल देती थी कि ऐसे सीधे देंगे तो लेगा नहीं इसीलिए इसके कपड़ों में रख दो, पर मैंने नहीं लिए। मैं आई.आई.एम में पढ़ रहा था जहाँ सोने तक का समय नहीं मिलता और उसके साथ जाके में ट्यूशन पढाया करता। तुम तो तीसरे साल में हो, मैं जब पहली साल में था तब से अपना कमा रहा था। IIT के पास एक जगह है कालु सराए, वहाँ पर फिटज़ी जैसे कोचिंग सेंटर हैं, वो एक कॉपी चेक करने का पांच या दस रुपये दिया करते थे। हम लोग पुरे के पुरे बंडल उनके पास से ले आते थे, चेक करते थे और पैसे लेते थे। तुम क्यों नहीं कर रहे हो? तुम ट्यूशन क्यों नहीं पढ़ा सकते हो? तब तो इन्टरनेट भी नहीं था, फिर भी हम रास्ता ढूंड लेते थे क्योंकि चाहते थे। वही स्रोत वाली बात। तुम क्यों नहीं रास्ता ढूंड लेते? तुम क्यों राज़ी हो जाते हो। तुम इतने गये-गुज़रे हो की तुम गणित नहीं पढ़ा सकते 6-8 के बच्चों को?

प्र: सर अगर उनके फैसले को नहीं मानेंगे तो हम अलग नहीं हो जाएंगे उनसे?

आचार्य: अलग होने का क्या अर्थ है? प्रेम में, मैं हूँ, तुम हो, हममे आपस में प्यार है, ये प्यार कोई बंदिश तो नहीं है कि

मैंने जो कह दिया तझे मानना ही पड़ेगा। ये प्यार जो शर्तें लगाए की मैंने जो कहा तू मान और तू नहीं मानता तो मेरा और तेरा कोई रिश्ता नहीं। तो ये तो प्यार है ही नहीं, ये तो फिर व्यापर है। प्यार तो मुक्ति देता है जो कहता है जा अपने हिसाब से जी, अपने पंखों से उड़। ये कौनसा प्यार है जो कहता है की हमारे हिसाब से चल? ये प्यार है ही नहीं।

प्र: इसका मतलब माँ-बाप प्यार ही नहीं करते?

आचार्य: वो तुम जानो। साफ़-साफ़ देखो। लेकिन इतना मुझे पक्का है की प्यार में शर्तें नहीं हो सकती। जहाँ शर्ते होती हैं वहाँ तो व्यापार चल रहा है की हमने तेरे उपर इतना खर्चा किया है, हमने तझे पैदा किया है तो अब हमारी बात मान। तेरी हिम्मत कैसे हो गयी हमारे विरुद्ध जाने की, हम मालिक हैं तेरे।

प्र: सर फ़र्ज़ भी तो बनता है हमारा कुछ उनकी तरफ।

आचार्य: फ़र्ज़ क्या है? मेरा तुमसे प्यार है अगर तो मेरा फ़र्ज़ क्या है? मेरा फ़र्ज़ ये है कि मैं तुम्हें होश में लाने में मदद करूँ। मेरा फ़र्ज़ ये ही कि मुझे रौशनी मिली है तो मैं तुम्हें भी दूँ।

प्र: फिर ये तो स्वार्थ है।

आचार्य: ये स्वार्थ नहीं है। ये परम-प्रेम है। धितराष्ट्र हैं वो अंधे हैं, पत्नी आती है, वो भी पट्टी बांध लेती है। ये प्रेम है? या प्रेम वो होता की मैं अपनी आँखें खुली रखूंगी ताकि मैं तुम्हें भी चालने में सहारा दे सकू? अब मिया-बीवी दोनों अंधे हो गए और अब दोनों साथ-साथ ठोकर खा कर गिर रहे हैं। ये प्रेम है? या प्रेम वो होता ही की तुम अंधे हो और आओ हम तुम्हें सहारा देंगे और हम कोशिश करेंगे की किसी तरह तुम्हारी ज्योति भी वापस आ सके। ये प्रेम होता है। प्रेम रोशिनी देता है या अँधेरा बांटता है?

प्रेम का एक मात्र फ़र्ज़ होता है — जाग्रति।

प्रेम ये नहीं होता की तुम अपनी मानसिकता की कोठरी में कैद हो और हम उसी में कैद रहने देंगे। प्रेम कहता है की भले हमारे-तुम्हारे संबंधों में तनाव आ जाए लेकिन मैं तुम्हें भी मुक्त करके रहूँगा क्योंकि मैंने मुक्ति जानी है और मुक्ति बड़ी आनंदपूर्ण है। तो भले तुम्हें बुरा लगे, फिर भी मैं तुम्हारी साहयता करूँगा। एक-दुसरे को बंधन में डालने का नाम थोड़े ही प्रेम है। कैसी बातें कर रहे हो?

फिर जब तुम माँ-बाप की बात करते हो तो उनके साथ थोड़ा सा रियायत बरता करो। तुम लोग बड़ा अन्याय भी करते हो माँ-बाप के साथ। मैंने अभी कहा की तुम खुब बड़े हो गए हो, खुब जवान हो गए हो। तुम्ही यहाँ बैठे हो, हो सकता था तुम्ही माँ-बाप होते। अब तुम अच्छे से जानते हो अपने आप को कि तुम हमेशा संदेह में घिरे रहते हो, जीवन का तुम्हें कुछ पता नहीं, दुर्बलताएँ तुमपे हावी रहती हैं, ऐसा ही है न? चलो अपने आप को नहीं देख सकते तो अपने पडोसी को देखो, उसकी यही हालत रहती है? अब तुम्हारा पडोसी कल को बाप बन जाए और अपने बच्चों को बोले कि मैं भगवान हूँ, मैं जो कह रहा हूँ वो बिलकुल ठीक है, मेरी आज्ञा मानना तेरा फ़र्ज़ है, तो ये बेवकूफ़ी की बात हुई या नहीं हुई और ऐसे ही तुम्हारे जैसे ही लोग होते हैं जो माँ-बाप बन जाते हैं। वो भगवान कहाँ से हो गए, उनकी आज्ञा में क्या दम हो गया।

तुम अपने आप को देखो ना कि तुम्हारा एक छोटा सा बच्चा हो और तुम उसे सिखा रहे हो की मैं भगवान हूँ, मेरी आज्ञा मान, मैं देवी हूँ मेरी आज्ञा मान। तुम्हारे ही दोस्त का बच्चा अगर ये सब कर रहा होगा तो तुम कहोगे की पागल है क्या, ये भगवान दिखता है तुझे? ये क्या है मैं बताता हूँ, इसकी असलियत में जानता हूँ, पर क्योंकि परम्परा चली आ रही है तो हर माँ-बाप गलती कर जाता है और अपने बच्चों को ये बता देता है की माँ-बाप की आज्ञा शिरोधार्य है। ये बड़ी बेवकूफ़ी की बात है। अपने बच्चों को तुम कभी ये शिक्षा मत दे देना कि हम भगवान हैं। अपने बच्चों को ये मत बोल देना कि हम जो बोल रहे हैं वो ठीक है, हमारी बात माना कर क्योंकि तुम अच्छे से जानते हो कि तुम खुद कितने परेशान हो, तुम अच्छे से जानते हो की तुम्हें जीवन की खुद कोई समझ नहीं है। जब तुम्हें जीवन की समझ नहीं है तो तुम्हें हक़ क्या है अपने बच्चों पर अपनी बात थोपने का, पर दुनिया का हर माँ-बाप खुद जीवन को कुछ नहीं जानता पर बच्चों पर आज्ञा ज़रूर चालता है।

बच्चा हो तो उससे प्यार करो और प्यार का अर्थ होता है उसको ऐसी काबिलियत देना कि वो मुक्त जीवन जी सके। ये प्यार है। प्यार ज़ंजीरों का नाम नहीं है। प्यार किसी पे मालकियत करने का नाम नहीं है। बात समझ में आ रही है या नहीं आ रही है? और नहीं आ रही है तो अपने पडोसी की ओर देखो और सोचो कि वो अपने बच्चे से बोल रहा ही की

मैं भगवान हूँ, मेरी हर आज्ञा माना कर। जैसे तुम हो, वैसे ही दुनिया के सारे माँ-बाप हैं। दुनिया भर में भले तुम्हारी कोई हैसीयत न हो, जीवन के सामने भले तुमने घुटने टेक रखे हो, पर अपने बच्चों पर तुम चढ़ जाते हो कि हम जो बोल रहे हैं वो परम सत्य है और इसी पर चल। ये अन्याय है।

प्र: पर सर उन्होंने हमे बड़ा किया है, इतना कुछ किया है तो हमारी ज़िम्मेदारी बनती है की हम उनके लिए कुछ करें।

आचार्य: हाँ बिलकुल ठीक है। ये मानवता का तकाजा है कि किसी ने तुम्हारे उपर रूपया खर्च किया, पैसा खर्च किया, तुम्हारी देखभाल कि तो तुम कहो कि आज तक आपने दिया, अब हम आपको देंगे और इसीलिए नहीं देंगे कि हम कोई उधार लौटा रहे हैं, इसीलिए देंगे क्योंकि हमे आपसे प्यार है। आज तक आपने हमारी देखभाल करी, अब आप हमे भी तो मौका दीजिए कि हम आपको सहारा दे सकें। जब हमें क, ख, ग नहीं आता था तो आपने मुझे रौशनी दिखाई, अब मुझे कुछ दिख रहा है तो मैं भी तो आपको कुछ दिखाऊ और जब मुझे क, ख, ग नहीं आता था और आप मुझे सिखाते थे तो मैं रोता भी था, चिल्लाता भी था और आपकी बात नहीं मानता था।

जब माँ-बाप बच्चे को सिखा रहे होते हैं तो बच्चा उसका विरोध करता है कि नहीं करता? तो माँ-बाप का क्या फ़र्ज़ होता है उस समय। माँ-बाप का फ़र्ज़ होता है की हर तरीके से उसे सिखाएँ। तो तुम्हारा भी यही फ़र्ज़ है कि तुम्हें कोई बात ऐसी समझ में आ रही है जो माँ-बाप को नहीं पता तो तुम भी हर संभव तरीके से उनको सिखाओ। जैसे उन्होंने तुम्हें सिखाया, वैसे ही तुम उन्हें सिखाओ। ये थोड़ी ही कि हम दबे बैठे हैं, हम मुह कैसे खोल दें और एक बात ध्यान रखना कि हर माँ-बाप के लिए सबसे ख़ुशी का दिन वही होता है जिस दिन उनकी संतान इस काबिल हो जाती है कि उन्हें कुछ सिखा सके। अगर वो तुमसे सही में प्यार करते हैं ना तो बड़ा आनंद मिलेगा उन्हें अगर तुम उन्हें ऐसी बात बताओगे जो उन्हें आज तक दिखाई नहीं दी थी।

....

(उत्तर प्रदेश, 2014)

करने से पहले सोचना आवश्यक है क्या?

प्रश्नकर्ता: सर, कहा जाता है कि कोई भी काम करने से पहले उसमें सोचना-विचारना ज़रूरी है। लेकिन मेरी ऐसी आदत है कि जो भी मैं सोचता हूँ, उसे कर देता हूँ। ये हमारे लिए अच्छा होगा या बुरा?

आचार्य प्रशांत: दोनों हो सकते हैं, निर्भर करता है कैसे। अगर मुद्दा उलझा हुआ है, तो सोच एक अच्छा उपकरण है। तुम्हारे मन के पास सोचने की जो क्षमता है, वो एक अच्छी ताकत है, यदि मुद्दा उलझा हुआ है। लेकिन ध्यान देना कि सोच की अपनेआप में कोई अहमियत नहीं है। सोच की अहमियत बस ये है कि सोच ख़त्म हो करके समझ बन जाती है।

वो सोच जो चलती ही रहे, वो माथे का बोझ है। ऐसी सोच जो चले ही जा रही है, वो सिर्फ सर का बोझ है। सोच भी वही अच्छी है जो जल्दी ही शांत हो जाए क्योंकि मुद्दा सुलझ गया। उलझन सुलझ गई, अब सोचना क्या?

तो सोच सिर्फ एक अस्थाई स्थिति हो सकती है। अगर वो निरंतरता में आ गई, कि ये चिंतक हैं, ये दिन-रात चिंता करते हैं। तुमने देखे होंगे कई ऐसे जो दिन-रात सोचते ही रहते हैं। तो फिर अब वो आदमी पागल हो जाएगा। अगर तुम दिन-रात सोचने में ही लग गए, तो पागल ही हो जाओगे।

सोचना भी वही भला, जो कुछ देर चले और फिर शांत हो जाए। जैसे एक उपकरण का प्रयोग किया जाता है। प्रयोग किया, काम हो गया। अब क्या सोचना? अब हम नहीं सोचते। खत्म सोचना-विचारना। अब हम निर्विचार, चुप, शांत हैं। तो अगर तुम कह रहे हो कि बिना सोचे कर डालते हो, तो बहुत अच्छी स्थिति है यदि स्पष्टता है। जब स्पष्टता पहले से ही है तो और सोचकर क्या करना है? पर यदि स्पष्टता नहीं है और तब भी नहीं सोच रहे, तो गड़बड़ है। 'सोच' एक उपकरण है, जिसका सही प्रयोग होना चाहिए। कब होना चाहिए इसका प्रयोग? जब मामला...?

प्र: उलझा हुआ हो।

आचार्य: लेकिन अगर तुमने ये हरकत कर दी कि सब कुछ स्पष्ट है, बात सीधी है पर फिर भी तुम उलझे हो, व्यर्थ ही उलझे-उलझे हो, तो तुम समय नष्ट कर रहे हो, दिमाग ख़राब कर रहे हो।

....

(कानपुर, 2014)

मन प्रशिक्षण के अनुरूप ही विषय चुनेगा

प्रश्नकर्ता: मेरी कमज़ोरी यह है कि मैं एकाग्र नहीं हो पाती हूँ। तो एकाग्रता को मैं अपनी ताकत कैसे बनाऊँ?

आचार्य प्रशांत: तो सीधे-सीधे सवाल ये है कि एकाग्रता बढ़ाएँ कैसे? कितने लोग एकाग्र नहीं हो पाते हो?

(लगभग सभी श्रोता हाथ उठाते हैं)

(मुस्कुराते हुए प्रश्नकर्ता की ओर देखते हुए) यह तुम्हारी कमज़ोरी कहाँ है, यह तो सार्वजनिक कमज़ोरी है। यह तो मुझे लग रहा है कि कोई विश्वव्यापी समस्या है। कोई है जो कहता हो कि "नहीं, एकाग्र जहाँ चाहते हैं वहाँ हो जाते हैं"? ऐसा भी कोई है?

(दो-चार श्रोतागण कहते हैं कि हो जाता है)

दो-चार हैं जो दावा करते हैं कि जहाँ चाहते हैं, मन को वहीं ले जाते हैं।

एक तो ये कि बात तुम्हारी नहीं है, यहाँ जितने बैठे हैं बात सभी की है। और दूसरी ये कि आज की नहीं है, सदा की रही है। सदा रहेगी भी शायद। बात है क्या? जिसको हम एकाग्रता कहते हैं, वो है क्या? तुम कब कहते हो कि मन एकाग्र है?

प्र: जब किसी विषय में आप सोचना चाहते हैं उसी बारे में सोच पाएँ।

आचार्य: तो तुमने कोई चीज़ पकड़ी है, और तुम उस चीज़ के बारे में सोचना चाहते हो। उसी को दूसरे शब्दों में कहते हैं कि तुमने एक विषय चुना है। और तुम चाहते हो कि विचार का वही विषय रहा आए, वो किसी और विषय पर न जाए। यही चाहते हो न?

देखो, दो तीन बातें हैं जो तुम्हें समझनी पड़ेंगी। फिर तुम्हें स्पष्ट हो जाएगा कि मन एकाग्र क्यों नहीं हो पाता है। पहली तो है कि मन कौन सा विषय चुनता है। मन हमेशा किसी-न-किसी विषय को तो पकड़ कर रखता ही है, यही फितरत है उसकी। कोई-न-कोई विषय उसको चाहिए। कुछ-न-कुछ ख्याल चलता रहना चाहिए और हर ख्याल का एक विषय होता है, ठीक है न? हम सब के मन में तमाम ख्याल चलते ही रहते हैं। ये बताओ कि ये कैसे तय होता है कि कौन किस बारे में सोचेगा?

मन में विचार तो चलते ही रहते हैं। दुनिया में क्या कोई ऐसा है जिसका मन विचारों से खाली रहता हो? शायद ही कोई। मन विचारों से भरा ही रहता है और हर विचार का क्या होता है? एक विषय होता है। जब भी तुम कहोगे कि “सोच रहा हूँ”, तब तुम्हें ये भी कहना पड़ेगा कि किस बारे में? तुम जिस बारे में सोच रहे हो, उसको क्या बोलेंगे?

श्रोतागण*: विषय।

आचार्य: अब मुझे ये बताओ कौन किस बारे में सोचता है? दुनिया में इतने लोग हैं, सब सोच रहे हैं। कोई कुछ सोच रहा है, कोई कुछ सोच रहा है। ये तय कैसे होता है कि कोई क्या सोच रहा है?

प्र१: सर, जिसके साथ जो घटनाएँ घटी हैं उसके बारे में।

आचार्य: तुम्हारे साथ बहुत सारी घटनाएँ घटी हैं अब तक जीवन में। काफी लंबा जी चुकी हो। क्या जितनी भी घटनाएँ घटी हैं तुम्हारे दशकों के जीवन में, सबके बारे में सोचती रहती हो? सब याद भी हैं? जितनी घटनाएँ तुम्हारे साथ घटी हैं, छोटी-बड़ी, उनका कितना प्रतिशत याद है? कोई दावा करेगा कि पचास प्रतिशत याद है? कोई दावा करेगा कि आज तक जितनी घटनाएँ घटी हैं, उनका पाँच-प्रतिशत भी याद है?

कोई दावा करेगा कि आज सुबह से लेकर अभी तक जितनी घटनाएँ घटी हैं, जितनी माने जितनी, प्रतिपल की घटना, उसका पचास-प्रतिशत भी याद है? मुश्किल हो जाता है, है न? तुम इस हॉल में आए हो, तभी से लेकर अब तक जितनी घटनाएँ घटी हैं, क्या याद हैं सारी? जितनी माने जितनी। मैं उनकी ही बात नहीं कर रहा जितनी तुम्हें याद हैं। मैं सारी घटनाओं की बात कर रहा हूँ।

प्र: नहीं सर।

आचार्य: नहीं न। तो तुमने ये कहा कि हर आदमी वही सोचता है, जो उसका अनुभव हो चुका है। पर क्या तुम अपने सारे अनुभवों के बारे में सोचते हो? नहीं। तुम अपने कौन से अनुभवों को याद रखते हो? ध्यान से देखो।

प्र: सर, जिसके बारे में हमें सबसे ज़्यादा अच्छा लगेगा या बुरा लगेगा, हम उसके बारे में ज़्यादा सोचेंगे।

आचार्य: तुमने तो पूरी बात तुरंत पकड़ ली। तुमने कहा या तो बहुत अच्छा लगे, या बहुत उसने चिंता दी हो, तनाव दिया हो, यानि कि बड़ा दहशत वाला हो। या तो बड़ा प्रिय, या तो बड़ा अप्रिय, ये दोनों बातें ही याद रहती हैं।

हम जो पूरी धार पकड़ रहे हैं इसको छोड़ना नहीं। हमने यहाँ से शुरू किया था कि एकाग्रता क्या है। एकाग्रता से हम यहाँ पर आए कि एकाग्रता का अर्थ होता है कि मन किसी एक विषय पर जा कर बैठा रहे। फिर हमने कहा कि मन सोचता तो रहता ही है, और सोचने के विषय हमेशा अलग-अलग हैं। तो हमने जानना चाहा कि मन क्या सोचता रहता है। तो किसी ने कहा कि मन अपने अनुभवों के बारे में सोचता रहता है। फिर हमने जानना चाहा कि कौन से अनुभवों के बारे में। तो बात खुल रही है कि मन अपने सबसे पसंदीदा और अपने सबसे अप्रिय अनुभवों के बारे में ही सोचता रहता है। ये जो पूरी लाइन है इसको छोड़ना नहीं। एक कदम और आगे बढ़ाते हैं। क्या सब लोगों को एक ही बात प्रिय होती है?

श्रोतागण: नहीं, सर।

आचार्य: क्या सब लोगों को एक ही बात अप्रिय होती है?

श्रोतागण: नहीं, सर।

आचार्य: किसको क्या पसंद है और किसको क्या नापसंद है, ये कैसे तय होता है?

चीन और जापान में तनाव चल रहा है। चीन का पलड़ा भारी है। ये बात किसको प्रिय लगेगी और किसको अप्रिय?

श्रोतागण: चीन को प्रिय लगेगी और जापान को अप्रिय।

आचार्य: चीन तो कुछ है नहीं न, चीनी होते हैं। तो अगर तुम चीनी हो, तो तुम्हें क्या प्रिय लगेगा? चीन का जीतना, और अगर तुम जापानी हो तो तुम्हें क्या प्रिय लगेगा?

श्रोतागण: जापान का जीतना।

आचार्य: तो खबर आई कि चीन हावी हो रहा है। तुरंत कोई खुश हो गया और तुरंत कोई उदास हो गया। एक ने सोचा, 'वाह' और एक के दिल से निकली, 'आह'। ये बात, ये नज़रिए, ये सोच, कहाँ से आई दोनों में? चीनी में भी, जापानी में भी, ये कहाँ से आई?

प्र: खबर।

आचार्य: खबर तो दोनों के लिए एक थी। एक समान खबर आई। इधर बैठे हैं चीनी, और इधर बैठे हैं जापानी। क्या खबर आई है?

(श्रोतागण खबर दोहराते हैं)

चीनी ने कुछ और सोचा और जापानी ने कुछ और सोचा। तो ये दोनों की सोच कहाँ से आ रही है?

अच्छा यहाँ चीनी बच्चे बैठे हुए हैं और कक्षा के दूसरी तरफ जापानी बच्चे बैठे हुए हैं। मान लो चौदह-चौदह साल के हैं, तो जैसे ही बताया जाएगा कि चीन का पलड़ा भारी है, चीनी बच्चे क्या कहेंगे?

श्रोतागण: वाह!

आचार्य: और जापानी बच्चे?

श्रोतागण: आह!

आचार्य: इन बच्चों की उम्र कम करते जाते हैं। अब ये चौदह साल के नहीं हैं, अब ये छह साल के हैं। ये छह साल के चीनी बच्चे, ये छह साल के जापानी बच्चे। खबर आती है। चीनी बच्चे क्या कहेंगे?

श्रोतागण: वाह!

आचार्य: जापानी बच्चे क्या कहेंगे?

श्रोतागण: आह!

आचार्य: अब बच्चों की उम्र और कम हो जाती है। अब बच्चे बिलकुल मासूम हो गए हैं। दो साल के, ढाई साल के। उन्हें खबर दी गई चीन जीत रहा है।

श्रोतागण: उन्हें कोई मतलब नहीं होगा।

आचार्य: कोई मतलब नहीं। सोच नहीं आई। अब तुम मुझे बताओ कि तुम्हारे दिमाग को जो प्रिय लगता है और अप्रिय लगता है, वो कहाँ से आता है? वो थिंकिंग (सोच) तुम में कहाँ से आई?

श्रोतागण: आयु से।

आचार्य: आयु ने तुम्हें क्या दिया? तीन साल के बच्चे और छह साल के बच्चे में सोच का अंतर कहाँ से आ गया?

श्रोतागण: एक्सपीरियंस (अनुभव)।

आचार्य: एक्सपीरियंस का अर्थ क्या है?

श्रोतागण: अनुभव।

आचार्य: अनुभव का आधार क्या है?

(श्रोता उत्तर देने में असमर्थ, आचार्य जी उनकी मदद करते हुए आगे बढ़ते हैं)

श्रोतागण: सराउंडिंग (आस-पास का माहौल)।

आचार्य: *सराउंडिंग*। जो कुछ भी आसपास है। क्या मैं कहूँ माहौल?

श्रोतागण: जी, सर।

आचार्य: क्या मैं कहूँ वातावरण?

श्रोतागण: जी, सर।

आचार्य: क्या मैं कहूँ दूसरे, स्थितियाँ, लोग?

श्रोतागण: जी सर।

आचार्य: तो सोच कहाँ से आई? दूसरों ने दी। यहाँ जो चीनी बच्चे थे, उन्हें दूसरों ने क्या सिखाया?

श्रोतागण: चीन से प्यार करो।

आचार्य: जो जापानी बच्चे थे, उन्हें दूसरों ने क्या सिखाया?

श्रोतागण: जापान से प्यार करो।

आचार्य: तो तुम्हारी सोच क्या तुम्हारी होती है?

श्रोतागण: नहीं होती, सर।

आचार्य: तुम्हारे नज़रिये क्या तुम्हारे होते हैं?

श्रोतागण: नहीं, सर।

आचार्य: अब देखो बात कहाँ तक पहुँची। हमने पूछा था, "मन एकाग्र क्यों नहीं हो पाता है?" हमने कहा था कि मन किसी एक ख़ास विषय पर जा कर बैठे। फिर हमने कहा था मन किसी एक विषय पर जा कर बैठा ही रहता है, हम सोचते ही रहते हैं। तो फिर हमने जानना चाहा कि मन कौन से विषय चुनता है। तो वहाँ से अनुष्का ने बताया कि मन दो ही विषय चुनता है – जो उसे बहुत पसंद हों या जो उसे बहुत नापसंद हों। तो फिर हमने जानना चाहा कि ये पसंद, नापसंद, ये नज़रिये, ये हमे मिलते कहाँ से हैं? तो अब हमें पता चलता है कि वो अब हमें हमारे माहौल से मिलते हैं। तो अंततः मन कहाँ जा कर बैठता है? मन किस वस्तु पर एकाग्र हो जाता है। ये तुम्हें कहाँ से मिला?

श्रोतागण: माहौल से मिला।

आचार्य: माहौल से मिला। इसको कहते हैं मन का संस्कारित होना। इसी को मन की कंडीशनिंग कहते हैं। तो अब हम सवाल थोड़ा सा बदलेंगे। मन एकाग्र तो होता ही है। एकाग्रता कोई समस्या नहीं है। लगता हमें यही है कि एकाग्रता समस्या है। एकाग्रता समस्या नहीं है। मन एकाग्र तो होता ही है। अब प्रश्न ये है कि मन इस प्रकार के विषयों पर क्यों एकाग्र होता है? तुमने एक विषय कहा उस पर नहीं एकाग्र हो रहा वो। वो कहीं और जा करके बैठना चाहता है। और हमने देखा है कि मन वहाँ जा करके बैठता है जैसा उसे सिखाया गया है। किसके द्वारा?

श्रोतागण: दूसरों के द्वारा।

आचार्य: मन उड़-उड़ कर वहीं बैठेगा जहाँ बैठने की उसको लगातार माहौल द्वारा शिक्षा दी गई है। एकाग्रता की कोई समस्या है ही नहीं।

कोई मूवी देखने जाते हो, फ़िल्म देखने, देखा है कितने एकाग्रचित हो कर देखते हो? क्या तब तुम ये शिकायत करने आते हो कि, "सर कंसन्ट्रेट नहीं कर पा रहे हैं"? क्रिकेट मैच देखते हो। देखा है कितने एकाग्र हो करके देखते हो? क्या तब तुम ये शिकायत करते हो कि सर एकाग्रता नहीं बनती? तो तुम्हारे पास एकाग्रता की कोई कमी नहीं है। तुम सब एकाग्र होना जानते हो। प्रश्न ये है कि हम किन विषयों पर एकाग्र होते हैं। हमने मन को कैसा संस्कारित किया है।

हमने किन जगहों पर मन को रुचि लेना सिखा दिया है।

मन के पास अपने कोई इंटरेस्ट नहीं होते, कोई रुचियाँ नहीं होतीं। कभी ये दावा मत करना कि मेरी रुचि इस काम में है। सारी रुचियाँ मन को सिखाई जाती हैं। एक विद्वान ने एक बच्चे के मन के लिए नाम दिया है, '*टेबुला रासा*', खाली स्लेट, खाली स्थान। उसमें कुछ लिखा नहीं होता। ना रुचि लिखी होती है, ना अरुचि लिखी होती है।

तुम उसमें रुचियाँ-अरुचियाँ खुद भरते हो। तुम्हारे जीवन के प्रारंभ में रुचियाँ-अरुचियाँ भरी जाती हैं, माहौल द्वारा, जिसमें तुम्हारा कोई बस नहीं है। और एक उम्र के बाद वो रुचियाँ-अरुचियाँ तुम्हारे ही द्वारा भरी जाती हैं। तुम जैसी ट्रेनिंग दे रहे हो मन को, मन उसी के अनुसार एकाग्रता का विषय चुन लेता है। तुमने जो धारणाएँ बना रखी हैं, मन उसी के अनुसार कहीं पर जाकर बार-बार बैठने की शिक्षा पा लेता है।

उदाहरण देता हूँ;

अगर तुमने ये धारणा बना रखी है कि जो भी किया जाए, वो अंततः किसी परिणाम के लिए किया जाए। अगर जीवन के बारे में तुमने ये धारणा पाल ली है, किसी कारणवश, किसी प्रभाववश, कि जो भी किया जाए वो किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया जाए, तो तुम्हारा मन लगातार-लगातार एकाग्र रहेगा उद्देश्य पर। नतीजा क्या होगा? कि तुम जो कर रहे हो मन उसमें कभी एकाग्र नहीं हो पाएगा, क्योंकि उद्देश्य दूर कहीं भविष्य में बैठा हुआ है।

और यदि तुम्हारे मन में ये बात भर दी गई है कि जीवन इसीलिए है ताकि कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके, तो तुम जो कुछ भी करोगे छोटा काम, बड़ा काम, तुम्हारा मन कभी उसमें लग ही नहीं सकता। क्यों? क्योंकि तुम्हें ये बता दिया गया है कि काम छोटा है और उद्देश्य बड़ा है। तुम्हें ये बता दिया गया है कि राह महत्वहीन है, मंज़िल महत्वपूर्ण है।

अब ये तो बड़ी मज़ेदार बात हो गई क्योंकि राह महत्वहीन है तो तुम चलोगे कैसे? किसी पढ़ने वाले को यदि बता दिया जाए कि पढ़ाई इसीलिए है ताकि परिणाम अच्छे आ सकें, तो फिर पक्का ही है कि वो पढ़ नहीं पाएगा। क्योंकि उसकी नज़र हमेशा कहाँ रहेगी?

श्रोतागण: परिणाम पर।

आचार्य: परिणाम पर। और अगर उसे ये भी बता दिया जाए कि बिन पढ़े भी परिणाम हासिल हो सकता है, तब तो वो बिलकुल ही नहीं पढ़ेगा क्योंकि उसके मन को संस्कार ही ये दे दिया गया है कि महत्वपूर्ण क्या है?

श्रोतागण: परिणाम।

आचार्य: परिणाम मिल रहा है, बिना पढ़े मिलता है तो अच्छी बात है। किसी को यदि ये संस्कार दे दिया जाए कि पैसा बहुत महत्वपूर्ण है, तो फिर वो कभी भी प्रेमपूर्ण हो कर किसी काम को नहीं कर पाएगा। क्योंकि महत्वपूर्ण क्या है काम या पैसा?

श्रोतागण: पैसा।

आचार्य: उसको तो ये शिक्षा दे दी गई है कि पैसा बहुत महत्वपूर्ण है। उसका काम में मन कभी लगेगा ही नहीं, क्योंकि काम अब उसके लिए बस एक माध्यम है, सिर्फ एक ज़रिया है, क्या करने का?

श्रोतागण: पैसा कमाने का।

आचार्य: और जब भी, कुछ भी जब तुम्हारे लिए एक ज़रिया बन जाता है तो तुम उसकी उपेक्षा करना शुरू कर देते हो। वो तुम्हारे लिए सिर्फ एक उपयोग की चीज़ हो जाता है। तुम उपयोग करोगे और उसका तिरस्कार कर दोगे। तुम उसमें डूब नहीं सकते, तुम उससे प्रेम नहीं कर सकते। उसका उपयोग बस कर सकते हो। और उपयोग में और प्रेम में अंतर होता है न, कि नहीं होता है?

तो एकाग्रता प्रश्न है ही नहीं। प्रश्न ये है कि हमने मन को क्या सिखाया है? कि जीवन में क्या महत्वपूर्ण है? तुमने मन को जो भी सिखाया होगा कि ये महत्वपूर्ण है, मन वहीं पर जा करके बैठ जाता है। फिर से बोल रहा हूँ, एकाग्रता की कोई कमी नहीं है, एकाग्रता कोई मुद्दा ही नहीं है। एकाग्र तो हम सब हो ही जाते हैं। सवाल ये है कि कहाँ पर एकाग्र हो जाते हैं? कहाँ पर एकाग्र होगा मन? मन वहीं एकाग्र होगा, जो मन को बता दिया गया है कि महत्वपूर्ण है।

मैं तुमसे पूछ रहा हूँ अब कि तुमने जीवन में किन बातों को महत्वपूर्ण मान रखा है? और पक्का बता रहा हूँ कि जो कुछ भी तुमने महत्वपूर्ण मान रखा है, वहाँ ही जा कर तुम्हारा मन बार-बार अटक जाता है। उसी डाल पर तुम्हारा पंछी जा कर बार-बार बैठ जाता है।

तो गौर से देखो अपने मन को और उससे पूछो कि "क्या है जो तूने महत्वपूर्ण मान रखा है? किन मूल्यों को पकड़ करके बैठा हुआ है तू? तेरी धारणाएँ क्या हैं?" जो तुम्हारी धारणा होगी, वहीं तुम एकाग्रचित हो जाओगे।

तुमसे एक प्रश्न पूछ रहा हूँ। तुम में से कितने लोगों ने वाकई में पूरी ईमानदारी से माना है कि जीवन में और सब चीज़ों से ज़्यादा ज्ञान महत्वपूर्ण है? जिस किसी ने ये पूरी गहराई से माना होगा, सिर्फ दावा करने से नहीं होगा, बात ईमानदारी की है। जिस किसी ने पूरी गहराई से ये माना होगा कि जीवन में सबसे महत्वपूर्ण ज्ञान है, उसको तो एकाग्रचित होते देर ही नहीं लगेगी। वो कहेगा, "ज्ञान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। ज्ञान खाने से ज़्यादा महत्वपूर्ण है। अगर मैं पढ़ रहा हूँ तो मैं खाने नहीं जा सकता। ज्ञान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। ज्ञान मेरे रिश्ते-नातों, दुनियादारी से ज़्यादा महत्वपूर्ण है। अगर मैं पढ़ रहा हूँ तो मैं मोबाइल फ़ोन पर आती हुई कॉल का जवाब नहीं दे सकता।"

पर क्या तुम्हारे साथ ऐसा होता है कि यदि तुम पढ़ रहे हो, तो कुछ भी हो जाए तुम अपने आसन से हिलते नहीं? इसका अर्थ समझो। तुम पढ़ रहे हो और दरवाज़े पर तुम्हारा दोस्त दस्तक देता है। तुम पढ़ाई छोड़ कर दोस्त के साथ चल देते हो इसका मतलब तुम्हारे मन ने ज़्यादा महत्वपूर्ण क्या माना?

श्रोतागण: दोस्त को।

आचार्य: अब जब तुमने अपनेआप को ये संस्कार दे रखा है कि दोस्ती, ज्ञान से अधिक महत्वपूर्ण है, तो निश्चित सी बात है कि मन किताब से ज़्यादा दोस्त पर एकाग्र होगा। हो गई न गड़बड़। अब क्या करें? ये तो मन में हमने धारणाएँ ही उलटी-पुल्टी भर रखी हैं। तुमने यदि मन को बता रखा है कि जीवन में भय बड़ी महत्वपूर्ण चीज़ है। अगर तुम्हारी दृष्टि ये है कि दुनिया भय से चलती है, तो फिर तुम पढ़ोगे कब?

श्रोतागण: जब भय होगा।

आचार्य: और यदि भय नहीं है तो तुम नहीं पढ़ोगे। तो फिर तुम्हारी एकाग्रता भय पर है। तुम भय का इंतज़ार करोगे। तुम फिर इंतज़ार करोगे कि भय कब आए और मैं पढ़ूँ। और फिर मात्र भय ही है जो तुमसे कुछ करवा सकता है। उसके बिना तुम कुछ करोगे नहीं।

अब अभी भय है, नहीं तो तुम कैसे पढ़ोगे? फिर तुम कहते हो कि एकाग्र नहीं हो पा रहे। कैसे हो पाओगे? तुमने महत्वपूर्ण किसको माना है? अभी भय ही नहीं है, तो एकाग्रता कहाँ से लाई जाए? कोई मिल जाए डराने वाला, दो-चार डंडे लगाए, तुरंत एकाग्रता आ जाएगी। होता है कि नहीं होता है?

यदि ऐसा होता है तो समझो कि तुम्हारे मन में उलटी-पुल्टी धारणाएँ ठूस दी गई हैं। इस दुनिया ने, समाज ने, परिवार ने तुम्हें कुछ ऐसा सिखा दिया है जो झूठा है। तुम्हें जीवन को देखने की एक नकली दृष्टि दे दी गई है। तुम जिन बातों को मूल्यवान समझ रहे हो वो मूल्यवान हैं ही नहीं। तुम्हारा मन उड़-उड़ कर जिस डाल पर बैठ रहा है, उस डाल पर ना कोई फल है, ना कोई पत्ती। तुम्हारे मन को शिक्षा दे दी गई है सूनी, बंजर डालों पर बार-बार जाकर बैठ जाने की। तो मन एकाग्र तो हो रहा है, पर ऐसी जगहों पर जहाँ से तुम्हें कुछ मिल सकता नहीं। मन जा-जा करके ऐसी डालों पर बैठ रहा है जिनमें तुम्हारे लिए कोई रस है ही नहीं।

तुम्हारे मन को भय से चलने कि शिक्षा दे दी गई है, लालच से चलने की शिक्षा दे दी गई है। अब अगर लालच महत्वपूर्ण है तो तुम कुछ भी कब करोगे? जब उसके पीछे कोई लालच खड़ा हो। और यदि लालच नहीं है तो कर ही नहीं पाओगे। यदि लालच नहीं है, तो होगा ही नहीं तुमसे।

लेकिन घबराने की ज़रुरत नहीं है। मन को जैसे संस्कारों से भरा गया उसी तरीके से मन को धारणाओं से मुक्त भी किया जा सकता है। तुम सब होशियार हो, तुम सब के पास क्षमता है सच को समझ पाने की। तुम ध्यान से देखो कि चल क्या रहा है। जैसे-जैसे तुम अपने बेकार के मूल्यों से मुक्त होते जाओगे, वैसे-वैसे तुम पाओगे कि जो कुछ महत्वपूर्ण है, वास्तव में महत्वपूर्ण है, मन का उसकी ओर एकाग्र होना आसान हो गया है।

कबीर साहब का दोहा है –

पहले तो मन कागा था, करता जीवन घात। अब मनवा हंसा भया, मोती चुन चुन खात।।

मन हमारा कागा जैसा, कौवे जैसा कर दिया है। वो सिर्फ विष्ठा, मल ही खाता है। वो जहाँ कहीं दुर्गन्ध, सड़न देखता है, तुरंत उधर को चला जाता है। अच्छा दो लोग बैठ कर के व्यर्थ चर्चा कर रहे हैं, मन आकर्षित हो गया। टी.वी. में सड़ा हुआ कार्यक्रम आ रहा है, मन तुरंत उधर को पहुँच गया। किसी की निंदा चल रही है, तुरंत हम भी उसमें जुड़ गए। "पहले तो मन कागा था, करता जीवन घात।" और जब मन ऐसा होता है जो सिर्फ मल की ओर आकर्षित होता है तो ये जीवनघात है। तुम अपने जीवन को ख़त्म किए दे रहे हो। "अब मनवा हंसा भया।" मन का शोधन किया जा सकता है। मन हंस के जैसा हो सकता है। "अब मनवा हंसा भया मोती चुन चुन खात।" ऐसा भी हो सकता है। कैसे होगा?

सवाल पर फिर से जाओ। मैं कह रहा हूँ कि हमारे मन ने एक आदत पकड़ ली है। वो आदत क्या है? गंदगी की ओर ही जाने की। मन को ऐसा कैसे कर दिया जाए कि हमें उसे धक्का ही ना देना पड़े, वो स्वतः ही मोती की ओर जाए? उसके सामने तुम कितनी भी विष्ठा रख दो, भले ही वो भूखा मर रहा हो, पर उसकी ओर ना जाए?

प्र२: पहले भी हम समझाते थे कि ये चीज़ अच्छी है। अब हमें समझाना पड़ेगा कि ये चीज़ अच्छी नहीं है, ये अच्छी है।

आचार्य: समझाना पड़ेगा। ठीक है बढ़िया तरीका है, समझाना पड़ेगा। कैसे समझाओगे?

प्र२: सर, एक तरफ पढ़ाई है और एक तरफ *मूवी*। मूवी का शोर आ रहा है कि गाना अच्छा है, मूवी अच्छी है लेकिन मन को समझाना पड़ेगा कि पढ़ाई ज़्यादा ज़रूरी है, पढ़ाई ज़्यादा अच्छी है।

आचार्य: मन बड़ा चालाक है। वो खूब तर्क करेगा। वो पूछेगा, "कैसे?" उसे समझाओ, तुम्हें समझाना पड़ेगा। बताओ कैसे? मन कहेगा कि “तुम पढ़ाई क्यों कर रहे हो? सुख के लिए। पढ़ोगे तो पैसा कमाओगे, फिर सुख मनाओगे।” मन कहेगा कि “अभी बगल के कमरे में मनोरंजन है, सुख है, तो चलो सुख पा लेते हैं।” अब मन ने तुम्हें तर्क दे दिया। अब कैसे समझाओगे मन को? मन जीता, तुम हारे। बड़ी दिक्कत हो गई। बोलो कैसे समझाओगे? मन ने तर्क दे दिया है। जो मैंने अभी कहा वही तर्क दे दिया है मन ने। क्या उत्तर है इस तर्क का तुम्हारे पास?

प्र: मूवी तो हम बाद में भी देख सकते हैं।

आचार्य: जब अंततः सुख ही पाना है तो अभी क्यों न सुख ले लूँ? बाद में मूवीज़ की कोई कमी आ जाने वाली है?

तो दुःख कहाँ आ जा रहा है बाद में? और फिर जब सुख के लिए है सब कुछ, और अगर मैं कह रहा हूँ कि मुझे अंततः सुख मिलेगा, तो अभी क्या मिल रहा है मुझे? दुःख।

तुम मन को जो प्रक्रिया बता रहे हो कि अभी ये करो, अभी वो करो और आखिर में सुख मिलेगा, तो मन तुम्हें तर्क देगा कि “आखिर में सुख मिलेगा मतलब अभी क्या मिल रहा है? दुःख। तो अभी जिसमें सुख मिल रहा है वो सुख क्यों न ले लूँ? चलो घूमने चलते हैं!” मन कहेगा, “बाद की देखी किसने है, क्या पता जियेंगे भी कि नहीं। क्या पता बाद में क्या होगा! पर मुझे ये पता है कि अभी मुझे सुख उपलब्ध है। मैं अभी क्यों न उसमें नहा लूँ?” और मन यही कहता है। मन के पास बड़े-बड़े तर्क हैं। मन कहता ही यही है अब तुम क्या जवाब दोगे?

प्र२: सर, सुख और दुःख की परिभाषा बदलनी होगी।

आचार्य: (शाबाशी देते हुए) बड़ा बढ़िया लग रहा है सुन कर। तो सुख और दुःख को पुनः परिभाषित करना होगा। बहुत बढ़िया।

शुरू हमने किया था एकाग्रता से, और बात चलते-चलते कहाँ आ गई? कि जब तक हमें यही नहीं पता कि सुख कहाँ और दुःख कहाँ, तब तक हमारी एकाग्रता गड़बड़ ही रहेगी। मन गलत डाल पर ही बैठेगा। एकाग्र तो होगा, पर एकाग्रता का विषय गड़बड़ रहेगा। तो चलो अब सुख और दुःख की अब नई परिभाषा खोजते हैं। बताओ क्या नई परिभाषा खोजनी है सुख की और दुःख की?

चलो एक नई परिभाषा देखतें हैं सुख की। पहली बात- सुख समय पर या स्थिति पर आश्रित न हो, तभी हम कह सकते हैं कि वो सुख है। जो सुख भविष्य का है वो सुख है ही नहीं। वो मात्र?

प्र: कल्पना है।

आचार्य: बहुत बढ़िया। कल्पना है। कल्पना मिथ्या होती है। तो सुख कौन सा हुआ? जो एकमात्र...?

प्र: अभी है।

आचार्य: अभी है, वर्तमान में। दूसरी बात, सुख समय पर तो आश्रित है ही नहीं, सुख परिस्थिति पर, किसी व्यक्ति पर भी आश्रित नहीं हो सकता। सुख किसी और पर निर्भर हो नहीं सकता तो इसका मतलब एकमात्र सुख कौन सा हुआ? जो पूरे तरीके से मेरा है, जो आंतरिक है; जो किसी और के मिलने से नहीं मिल सकता कि, "मैं कुछ हासिल कर लूँ, कोई पद, कोई व्यक्ति, कोई मुकाम, तो मुझे मिलेगा।" दोनों बातों को मिलाओ। पहली बात से ये निकल कर आया कि वास्तविक सुख अभी है, और दूसरी बात कि वास्तविक सुख किसी दूसरे पर निर्भर नहीं है, आंतरिक है, मेरा है।

यदि सुख की हम ये नई परिभाषा रख सकें, तो सुख चाहने वाले मन को अब क्या करना पड़ेगा? मन सुख ढूँढता है।

मन को सुख जहाँ दिखता है, वहीं जा कर बैठता है। अब हमने मन को बताया कि सुख अभी है, सुख आतंरिक है। अब मन को कहाँ जाना पड़ेगा? कहीं नहीं। तो मन कहाँ रहेगा? अपने पास। तुम जहाँ भी हो मन...?

श्रोतागण: वहीं रहेगा।

आचार्य: तुम जो भी कर रहे हो मन...?

श्रोतागण: वही करेगा।

आचार्य: एकाग्रता की समस्या...?

श्रोतागण: हल हो गई।

आचार्य: तो एकाग्रता की समस्या मूलतः ये थी कि हमने सुख की परिभाषा गलत कर रखी थी। हमें बता दिया गया था कि सुख कहाँ पर है?

श्रोतागण: भविष्य में।

आचार्य: और हमें बता दिया गया था कि सुख कैसे मिलता है?

श्रोतागण: दूसरों के द्वारा।

आचार्य: दूसरों के द्वारा, कुछ हासिल कर लेने पर। कोई हमें मान्यता दे दे, दूसरे आकर हमारी तारीफ कर दें, दूसरा हमें प्रेम करने लगे। हमें दो गलत बातें बता दी गई थीं सुख के बारे में। फिर से हम दोहराएँगे। क्या थीं वो बातें? पहली क्या थी कि सुख कहाँ है?

श्रोतागण: भविष्य में।

आचार्य: और दूसरी क्या थी कि सुख कैसे मिलता है?

श्रोतागण: दूसरों में।

आचार्य: तो इसका नतीजा क्या होता था कि मन कहाँ को भागता था? दूसरों की ओर। और समय में कहाँ को भागता था? भविष्य की ओर। पर जैसे ही तुमने मन से कहा कि "ध्यान से देख! भविष्य में तो मात्र कल्पना है, सुख नहीं है। ध्यान से देख कि सुख दूसरों से कैसे मिल सकता है। जो सुख दूसरों से मिलेगा उसमें तो डर रहेगा कि कहीं छिन ना जाए।" आश्रित हो दूसरों पर क्योंकि छिन सकता है। तो इसीलिए वास्तव में सुख सिर्फ मेरा हो सकता है, अपनी आंतरिक मौज, कभी न छिनने वाली मस्ती। अब मन कहीं उड़ कर के जाएगा नहीं। उसे आवश्यकता ही नहीं कहीं जाने की। तुमने मन को स्पष्ट कर दिया कि सुख कहाँ है? और समय में कहाँ है?

श्रोतागण: आंतरिक है और अभी है।

आचार्य: पर बात सिर्फ मेरे कहने भर की नहीं है। तुमको मन से बातचीत करनी पड़ेगी। अभी तो बस मैंने कहा है, आगे का काम तुम्हें करना है। तुम्हें मन से बातचीत करनी है कि जो कर रहे हैं उसमें?

श्रोतागण: सुख है।

आचार्य: मुझे दूसरों पर भी...?

श्रोतागण: आश्रित नहीं रहना है।

आचार्य: ठीक है न? उसके बाद देखना, जहाँ तुम हो मन वहीं रहेगा। कहीं भागेगा नहीं।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2014)

मैं किसी भी नियम पर चल क्यों नहीं पाता ?

प्रश्नकर्ता: मैं नियम तो बनाता हूँ पर उन पर चल नहीं पाता। दो-चार दिन चलता हूँ और फिर वापस वैसे ही। ऐसा क्यों?

आचार्य प्रशांत: वही, एकाग्रता जैसी ही बात है, कि "नियम तो बनता हूँ पर उनपर चल नहीं पाता।" जिनको तुम कह रहे हो कि 'अपने' नियम बनाता हूँ, वो भी वास्तव में तुम्हारे नियम नहीं हैं, वो बाहर से आए हुए नियम हैं, संस्कारित नियम हैं। तो उन पर तुम चलोगे तो सही, पर तभी तक चलोगे जब तक कोई और आकर के तुम्हें कुछ और नहीं दे देता। तुमने अभी कुछ देखा, कहीं गए और बहुत प्रभावित हो गए और तुमने अपने लिए एक नियम बना लिया, जो देखा सुना, उससे। और दो दिन बाद कोई दूसरा प्रभाव तुम्हारे मन पर आ गया, तो क्या होगा पहले प्रभाव का और क्या होगा उन नियमों का? वो सब तिरोहित हो जाएँगे, कुछ बचेगा नहीं उनमें से।

(बिजली चली जाती है और हॉल में शोर होता है)

अब देखो, ये जो तुम्हारे सामने था, ये बिलकुल स्पष्ट उदाहरण था कि क्या होता है एक दमित मन का, क्या होता है नियमों का। जब तक तो रौशनी रही, तब तक तो नियम कायम रहे। पर ज्यों ही एक बाहरी अवस्था बदली – रौशनी क्या है? एक बाहरी अवस्था है – बाहरी अवस्था बदली तो जितने साँप, छछूंदर छुपे हुए थे बिलों में, वो सब बाहर आ गए। कुछ कीड़े होते हैं जो मात्र अँधेरे में ही निकलते हैं और वो सब निकल पड़े थे।

तो इसलिए नियम कभी प्रभावकारी हो नहीं सकता, क्योंकि दूसरा कुछ है जो निकलने का इंतज़ार कर ही रहा है। स्थितियाँ बदलेंगी और वो निकल पड़ेगा। एक बाहरी स्थिति है रौशनी की, तुम उस पर चल पड़े। दिन है तो तुम दिन के मुताबिक कर रहे थे, पर दिन सदा नहीं रहेगा, रात आएगी। और फिर तुम कहते हो कि “अब मैं वैसे क्यों नहीं चल पा रहा?” क्योंकि वो चाल तुम्हारी थी ही नहीं, वो चाल दिन की थी, वो चाल रौशनी की थी। और रौशनी गई, तो तुम्हारी चाल भी गई।

कोई एक व्यक्ति विशेष तुम्हारे सामने बैठा है तो तुम एक प्रकार का व्यवहार कर रहे हो। वो व्यक्ति जाएगा तो साथ में वो व्यवहार भी जाएगा। फिर तुम आश्चर्य करोगे कि, "मेरा व्यवहार बदल क्यों गया?" क्योंकि वो व्यवहार तुम्हारा था ही नहीं। वो व्यवहार उस परिस्थिति का था और परिस्थिति गई, व्यवहार गया।

अभी नया साल शुरू हुआ है। और जब एक जनवरी लगती है तो बहुत सारे लोग अपने लिए नियम बनाते हैं, व्रत लेते हैं, कि इस बार ये करेंगे और वो करेंगे। और ९९% जो व्रत लिए जाते हैं वो हफ्तेभर से ज़्यादा नहीं चलते। पूछो क्यों? क्योंकि वो व्रत लिया गया था एक जनवरी को। तो एक जनवरी को वो व्रत बड़ा अच्छा लगता है कि नया साल शुरू हुआ है तो मैं भी कुछ नया शुरू करूँगा, पर एक जनवरी तो गई और आज है पाँच जनवरी। अब आज क्या करूँगा उसका? वो एक जनवरी को शोभा देता था, आज क्या करेंगे?

क्योंकि वो व्रत तुम्हारा था ही नहीं, वो एक जनवरी का व्रत था। जिसे व्रत लेना होगा वो एक जनवरी का इंतज़ार करेगा

क्या? पर तुम इंतज़ार करते हो कि नया साल लगे तो कोई नियम बनाएँ।

ऐसा ही है एक प्रेम दिवस, चौदह फरवरी, और बहुत होंगे जो जा-जा कर अपना दिल खोल कर रख देंगे कि “तुम्हीं प्रेम हो, तुम्हीं जीवन हो। तुम ना हो तो हम हैं क्या, रेगिस्तान, उजाड़।” पर वो बातें हैं सारी चौदह फरवरी की, और चौदह फरवरी बीतेगी, सोलह तारीख़ आएगी और फिर सत्रह आएगी। और वो आकर पूछेगी, “क्या हुआ?” तुम कहोगे, “जो हुआ चौदह फरवरी को हुआ और आज थोड़े ही चौदह फरवरी है। बीत गया दिन!”

(सभी श्रोता हँसते हैं)

“अपनी मर्ज़ी से कहाँ अपने सफ़र के हम हैं, रुख हवाओं का जिधर है उधर के हम हैं।”

अब हवाओं का रुख बदल गया तो हम भी बदल गए। तो ऐसे टूटे हुए पत्ते सी जब हालत है, तो तुम्हारा नियम कोई भी तुम्हारा अपना है कहाँ?

पढ़ने बैठते हो और कोई दोस्त आता है और बोलता है कि, "बाहर चलते हैं!" तो तुम चल देते हो। प्रभाव बदला, बाहर को चल दिए। अब बाहर घूम रहे हो तो पिता का फ़ोन आ गया और पिता ने कहा कि “खेत बेच कर पढ़ने भेजा है और तुम वहाँ मटरगश्ती कर रहे हो!" तो तुम वापस चले जाते हो। कुछ भी तुम्हारा कहाँ है?

फिर वापस गए तो रास्ते में किसी ने पकड़ लिया कि, "देख मैंने लैपटॉप पर क्या खोल रखा है", तो तुम उधर को चल दिए। फुटबॉल जैसी तो हालत है कि जो जिधर को लात मारे उधर को चल देंगे। और क्योंकि विपरीत दिशाओं से लातें पड़ रही हैं तो साठ मिनट, अस्सी मिनट लात खा-खा कर गोल में एक-आध बार ही पहुँचते हो। फुटबॉल की दशा देखी है? उसको हर तरफ से लात पड़ती है, घण्टों लात खाती है तब भी गोल में कभी-कभार ही घुस पाती है। वो भी कब? जब गोलकीपर थोड़ा सा बेहोश हो, चकमा खा जाए। नहीं तो कभी ना घुस पाए वो गोल में।

ऐसे तुम्हें भी कभी गोल नहीं मिलते क्योंकि तुम हर दिशा से मारे जा रहे हो। तुम्हारा अपना कुछ नहीं है, जैसे

फुटबॉल की अपनी कोई मर्ज़ी नहीं है। कोई फुटबॉल आज तक खड़ी नहीं हुई कि, "ख़बरदार अगर लात मारी तो! हमारी कोई ग़ैरत है कि नहीं? और अभी हमारी मर्ज़ी नहीं है! और उस टीम के लोग हमें बड़े बेहूदे लग रहे हैं, हम तो इसी गोल में घुसेंगे!" और घुस कर बैठ ही जाए और बाहर ना निकले।

(श्रोतागण हँसते हैं)

जैसे फुटबॉल की अपनी कोई मर्ज़ी नहीं होती, वैसे ही हमारी कहाँ कोई अपनी मर्ज़ी होती है? कोई आकर डरा दे, हम डर जाएँगे। कोई आकर थोड़ा लालच दिखा दे, हम में लालच आ जाएगा। सड़क पर चल रहे होंगे और हमें कोई होर्डिंग दिख जाए, हमारा मन अस्थिर हो जाएगा, काँप जाएगा। मोबाइल पर कोई खबर आ जाए, संदेश आ जाए तो हमारे मन का पूरा मौसम बदल जाएगा, और ये बड़ी दुर्भाग्य की बात है।

इसका अर्थ ये है कि हम ज़िन्दा ही नहीं हैं। ये तो एक मृत गेंद की हालत होती है, ये झड़े हुए पत्ते की हालत होती है। जीवन कहाँ है फिर? अगर वास्तव में कोई युवा होगा तो उसको बड़ा क्रोध आएगा, बड़ी आग उठेगी अपनी इस स्थिति पर। वो कहेगा "मैंने ये क्या दुर्बलता पाल रखी है!" वो शर्मसार हो जाएगा। अपने ही ऊपर उसे बड़ी ग्लानि उठेगी। पर हम में तो शर्म भी नहीं उठती।

जब तक नियम बाहर से आएँगे, तब तक उनमें कोई ताक़त नहीं रहेगी, क्योंकि बाहर वाला अगर तुम्हें नियम दे सकता है तो नियम तुड़वा भी सकता है। अपनी आन्तरिक व्यवस्था से अगर तुम्हारी अपनी चाल हो तो तुम्हें किसी नियम की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी। खुद जानो, खुद समझो और फिर उससे एक सुंदर व्यवस्था निकलेगी, उस पर जियो।

....

(उत्तर प्रदेश, 2014)

दूसरों के सम्मान से पहले अपना सम्मान

प्रश्नकर्ता: आज सुबह के सत्र में चर्चा हुई थी भय और सम्मान के बारे में। उस चर्चा में कुछ लोगों का कहना था कि हम अपने अभिभावकों की बात इसलिए मानते हैं क्योंकि हमें उनसे भय है, और कुछ का कहना था कि हम उनकी बात इसलिए मानते हैं क्योंकि हम उनका सम्मान करते हैं। तो सर, हम कुछ भी क्यों करते हैं, भय के कारण या सम्मान के कारण?

आचार्य प्रशांत: अभिभावकों को छोड़ दो अभी। मामला उलझ जाता है क्योंकि वहाँ पर मोह है, इसलिए मामला उलझ जाता है। तुम किसी की भी बात क्यों मानते हो?

प्र: जब लालच होता है, फ़ायदा होता है।

आचार्य: और आदमी अपना दो ही जगह फ़ायदे देखता है; लालच या डर। तो बस हो गया।

प्र२: तो फिर डर और सम्मान में क्या अंतर हुआ?

आचार्य: सम्मान का मतलब आदर नहीं होता। सम्मान, चाहे अंग्रेज़ी में लो या संस्कृत में लो, उसका एक ही अर्थ होता है–'ध्यान से समझना'। तुमने किसी को समझ लिया, यही सम्मान है। मैं अभी बोल रहा हूँ, मेरे प्रति सम्मान यह नहीं हुआ कि तुम चुपचाप बैठे हो और 'आदरणीय महोदय' बोल रहे हो। तुमने मेरी बात को समझ लिया यही सम्मान है।

सम्मान का शाब्दिक अर्थ भी यही है, इसको समझना। रिस्पेक्ट में 'रि' माने तब तक देखना, तब तक कोशिश

करना, जब तक समझ न लो। इसी तरीके से हिंदी में, संस्कृत में जो सम्मान आता है, वह भी यही है 'सम्यक मान'। सम्यक रूप से मानना, माने समझ जाना। यूँ ही नहीं मान लेना। मान नहीं, 'सम्मान'। समझ जाना।

उसको विकृत कर दिया गया क्योंकि यह शब्द नासमझों के हाथ में पड़ गया। यह बड़े कीमती शब्द थे जिन्हें नासमझों ने पकड़ लिया और इन शब्दों का बड़ा गंदा अर्थ निकाल दिया। 'सु-प्रभात' बोलो तो वह सम्मान है। वह पागल है, उसे कुछ नहीं पता। 'सु-प्रभात' बोलने से सम्मान हो जाता है क्या? सर जो बोल रहे हैं वो समझ नहीं आ रहा, उस बात से तुम्हारा कोई संबंध नहीं है, आपस में कोई समझ नहीं है तो सम्मान कैसा?

तुम कहीं गए, तुमने किसी की चरण स्पर्श कर लिए। यह कोई सम्मान है? यह आदर है। आदर तो दूसरी चीज़ है। आदर झूठी चीज़ होती है। वह सतही चीज़ होती है। सम्मान बहुत कीमती चीज़ होती है। और हम सम्मान नहीं करते।

तुम आदर करते हो सम्मान नहीं करते। तुम आदर तो करते हो और आदर तो आचरण की बात है। तुम जाकर किसी के पाँव छू लो, यह आदर हो गया। यह तो दो पैसे की चीज़ है। इसमें क्या रखा है? बस झुके और पाँव छू लिए। सम्मान दूसरी बात है। और सम्मान कर पाना हर किसी के बस का होता नहीं। पर हम सम्मान शब्द को बड़े हल्के में उड़ा देते हैं। हम किसी से भी कह देते हैं, "मैं तुम्हारा सम्मान करता हूँ।" कहाँ करते हो?

तुम बात कर रही हो न अभिभावकों के सम्मान की? बहुत अफ़सोस की बात है कि हम में से शायद ही कोई हो, जो अभिभावकों का क्या, किसी का भी सम्मान करता हो, वास्तविक सम्मान। जब हम कुछ नहीं समझते, तो क्या हम अभिभावकों को समझ जाएँगे? हम दिन नहीं समझते, हम रात नहीं समझते, हम अपना चलना, उठना, बैठना, खाना, पीना, रोना, हँसना नहीं समझते, हम अभिभावकों को कैसे समझ जाएँगे?

जो अपने मन की समझ नहीं रख सकता, वह किसी और को कैसे समझ जाएगा?

दूसरे का सम्मान तो तब हो जब आत्म-सम्मान हो। आत्म-सम्मान मतलब खुद को समझना। आत्म-ज्ञान! पहले अपने आप को समझो, फिर कोई दूसरा समझ में आएगा। पर दावा हमारा यह है कि हम दूसरे का सम्मान करते हैं। कैसे करोगे? करोगे कैसे? चाहोगे तो भी करोगे कैसे? पहले अपना सम्मान कर लो। अपना सम्मान मतलब?

श्रोतागण: (एक स्वर में) अपने आप को जानना।

आचार्य: हाँ! आत्म-ज्ञान ही आत्म-सम्मान है।

ताक़त मत माँगो, देखो कि क्या कमज़ोर हो

प्रश्नकर्ता: सर, ताकत पाने के लिए क्या किया जाए?

आचार्य प्रशांत: तुममें ताकत ही ताकत है, कमज़ोरी कहाँ है? तुम्हें क्यों लगता है कि कोई ख़ास ताकत होनी चाहिए तुम्हारी? ज़रूर कमज़ोरी का कुछ एहसास है जिसके कारण ताकत की बात कर रहे हो। ताकतवर कहाँ ताकत की बात करता है? कभी किसी स्वस्थ आदमी को देखा है स्वास्थ्य की चर्चा करते हुए? स्वास्थ्य की चर्चा तो बीमारी की मौजूदगी में ही की जाती है। सबसे ज़्यादा स्वास्थ्य कब याद आता है? जब बीमार होते हैं।

तो क्यों बात कर रहे हो ताकत की? कमज़ोरी कहाँ है? और अगर ताकत की बात कमज़ोरी के एहसास से निकली है, तो पहले क्या आया? 'कमज़ोरी का एहसास' — तो क्यों न उसकी बात करें। क्योंकि अगर कमज़ोरी का एहसास न हो तो ताकत की बात छिड़ेगी ही नहीं। कमज़ोरी का एहसास कहाँ से आया? किसने तुम्हें कहा कि, "तुम कमज़ोर हो"?

प्र: सर, कहा किसी ने नहीं बस कभी-कभी अन्दर से ही ऐसा लगता है।

आचार्य: तुमसे जो पहली बात कही मैंने तुमने उसे ठीक से समझा क्या? यह सवाल ही कौन पूछता है कि, “मुझमें कोई ताकत है या नहीं”, यह कौन पूछता है? जिसको लग रहा होता है कि कमज़ोर है। तुम्हें लगना कब शुरू हुआ कि तुम कमज़ोर हो? और किन-किन तरीकों से तुम्हें यह एहसास हुआ कि तुम कमज़ोर हो? यहाँ तक बात साफ़ थी कि जो कमज़ोर नहीं है, वो ताकत की बात करेगा नहीं।

तुम दिन में कितनी बार सोचते हो अपनी किडनी के बारे में? और अगर किडनी की कोई बीमारी हो जाए तो फ़िर कितनी बार सोचोगे? दिन में कितनी बार अपने दाँत पर जीभ फेरते हो? और अगर दाँत हिलने लगे तो देखा है कितनी बार जीभ फेरते हो उस पर? तो पहले क्या आता है जीभ का फेरना या दाँत का हिलना?

प्र: दाँत का हिलना।

आचार्य: कमज़ोरी का एहसास पहले आता है न। तुम्हें कमज़ोरी का एहसास कैसे हुआ?

तुम्हें इस बात को बहुत गहराई से पकड़ना पड़ेगा क्योंकि अगर पकड़ोगे नहीं, तो वो एहसास तुम्हें बार-बार कराया जाएगा, और-और कराया जाएगा। बल्कि रोज़ ही कराया जाता है — कभी प्रकट रूप से तो कभी प्रत्यक्ष। और ज़्यादा ख़तरनाक तब होता है जब चोरी-छुपे तुम्हें कहा जाता है कि तुम कमज़ोर हो। बोलो, किन तरीकों से हमारे मन में यह बात डाली जाती है कि हम कमज़ोर हैं? कैसे डाली जाती है?

प्र२: सर, सार्वजनिक रूप से हमारा अपमान करके। मीडिया में जो विज्ञापन आते हैं जिनमें एक उत्तम छवि दिखाई जाती है और उनको देखकर ऐसे लगता है कि हम कमज़ोर हैं।

प्र३: सर, अगर मुझे कोई कुछ काम करने से रोकता है तो मुझे कमज़ोरी का एहसास होता है या जब कोई किसी से तुलना करता है तो कमज़ोर महसूस होता है।

आचार्य: और गहरे जाओ। ऐसा कैसे होता है कि एक छोटा बच्चा होता है, वो बीस साल का होते ही यह सोचना शुरू कर देता है कि, "मुझमें कोई खोट है, कोई कमज़ोरी है"?

प्र४: सर, हमारी जो शिक्षा-व्यवस्था है, वो इस तरह की है कि आप एक-दूसरे से तुलना करने लगते हो। हमें बचपन से ही यह सिखाया जाता है कि उसके जैसे बनो, उसके जैसे करो।

आचार्य: पर एक बात बताओ, अगर दस लोग हैं, तो यह तो पक्का ही है न कि अगर परीक्षा ली जाए तो उसमें किसी के सबसे ज़्यादा और किसी के सबसे कम अंक होंगे? और अगर दस लोग खड़े हैं तो यह भी पक्का है कि कोई सबसे ज़्यादा लम्बा होगा और कोई सबसे ज़्यादा छोटा होगा कद में?

प्र५: जी, सर।

आचार्य: तो यह तो पक्का ही है। इसमें एहसास कैसे कराया जाता है कि तुम में कुछ कमी है?

प्र६: सर, यह बता कर कि क्या अच्छा है और क्या बुरा। एक मापदंड रख दिया जाता है और कहा जाता है कि अगर यह नहीं है तो कुछ नहीं है, और अगर आप उस मापदंड पर खरे नहीं उतर रहे हो तो आप में कुछ कमी है।

प्र४: और जो मापदंड बनाए जाते हैं वो स्वाभाविक नहीं होते।

आचार्य: बहुत बढ़िया। पर एक बात और समझिए कि जब स्वाभाविक मापदंडों पर ही तय कर दिया जाए ‘ऊँचा’ और ‘नीचा’, तब बात और ख़तरनाक हो जाती है। उदाहरण के लिए, “तुम इस नस्ल के हो, इस रंग के हो, या तुम्हारा यह लिंग है”, या “इधर पैदा हुए थे”, या “इस उम्र के हो”, तो बात और ख़तरनाक हो जाती है। और वो भी होता है, खूब होता है।

प्र५: सर, जो मापदंड बाहर से आते हैं, उनसे पहले जो स्वाभाविक होते हैं वो बहुत पहले ही शुरू हो जाते हैं, जैसे लिंग-भेद बचपन से शुरू हो जाता है। उस उम्र में बेशक यह न पता हो कि पढाई में कितने अंक आने चाहिए पर यह पता होता है कि मैं लड़की हूँ और वो लड़का है, उसके साथ नहीं बैठना है या इसके साथ ही बैठना है। यह सब तो बहुत पहले आ जाता है।

आचार्य: ताकत जैसी कोई चीज़ होती नहीं है अस्तित्व में। तुम्हारे भीतर जो यह मूल्य भी स्थापित किया गया है कि तुम्हें ताकतवर होना चाहिए, यह बिलकुल बेकार की बात है। क्यों ताकतवर होना चाहिए?

जो इस कमरे के बाहर मुर्गा बैठा है, उसके पास क्या ताकत है? लेकिन मस्त है न, उड़ भी नहीं सकता। आज यह मुर्गा बाहर रखे एक गमले को इधर-उधर करने लगा तो उसके पीछे से घोंघे निकल पड़े, उनमें क्या ताकत है? पाँव रख दो तो पिचक जाएँगे। तो क्या वो दुखी हैं? उनका मस्त होना ही ताकत है न उनकी।

घास में क्या ताकत है बताओ? और डायनासोर्स में बहुत ताकत थी, वो कहाँ गए? मच्छर में क्या ताकत है? पर जितनी दुनिया में आदमियों की आबादी है, हर आदमी पर कुछ नहीं तो कम-से-कम पचास मच्छर तो होंगे। बिना ताकत के ही इतने हो गए।

ताकत की ज़रूरत नहीं होती है; सिर्फ़ यह भाव ना हो कि 'मैं कमज़ोर हूँ' — यही काफ़ी है।

कमज़ोरी का जवाब ताकत नहीं होती। कमज़ोरी का जवाब होता है: "कमज़ोरी के भाव का ना होना" — यही ताकत है।

किसी में यह भाव है कि 'मैं कमज़ोर हूँ' और किसी में यह भाव है कि 'मैं ताकतवर हूँ', यह दोनों ही बीमार लोग हैं। इतना ही काफ़ी है कि मैं ना सोचूँ कि 'मैं कमज़ोर हूँ'। और जो नहीं सोचेगा कि 'मैं कमज़ोर हूँ', वो यह भी नहीं सोचेगा कि 'मैं ताकतवर हूँ'।

ना ताकतवर हूँ ना कमज़ोर हूँ; ‘बस हूँ’; और इतना काफ़ी है।

तुम बताओ कि क्यों ग्रहण किया तुमने इन बातों को कि तुम कमज़ोर हो? और मैं जवाब इस अर्थ में नहीं माँग रहा हूँ कि तुमने कोई अपराध कर दिया हो, मैं जवाब इस अर्थ में माँग रहा हूँ कि जान जाओगे तो और ज़्यादा ग्रहण नहीं करोगे।

प्र६: सर, मैं पढ़ना छोड़ कर सारे काम बड़े अच्छे से करता हूँ।

आचार्य: अच्छे से माने?

प्र३: मतलब पूरे ध्यान के साथ।

आचार्य: तो उसमें कोई दिक्कत नहीं आती है? ठीक लगता है?

प्र३: पर माता-पिता हमेशा एहसास दिलाते हैं कि पढ़ना ज़रूरी है।

आचार्य: बेटा, जो काम तुम कर ही इस भाव से रहे हो कि हीनता है और मजबूरी है, तो उसमें तुम्हारी हीनता और मजबूरी की ही छाप दिखाई देगी। कॉलेज के लड़कों की उत्तर-पुस्तिका कभी देखो, तो उसमें उन्होंने कुछ नहीं लिख रखा होता है, बस यही दो शब्द होते हैं लिखे हुए; ‘हीनता', और 'मजबूरी’। शुरू से लेकर अंत तक उनकी मजबूरी टपक रही होती है, कि, "अगर हमारे बस में होता तो हम कुछ लिखते ही नहीं इस पुस्तिका में। पर करें क्या, फीस जो दी है, तो पास होना है। करें क्या, भविष्य का दबाव है। पेट है, तो डिग्री हासिल करनी है।"

तुम्हें उत्कृष्टता कैसे हासिल हो जाएगी? ज़बरदस्ती से करे हुए काम का नतीजा कोई शुभ तो नहीं हो सकता, या हो

सकता है? जो काम इस एहसास से निकला हो कि 'मैं छोटा हूँ' और 'कमज़ोर हूँ', क्या वो काम तुम्हें ऊँचाई पर पहुँचा देगा? काम निकला ही इसी भावना से है कि, 'मैं नीचा हूँ', और काम का फल तुम्हें ऊँचाई पर पहुँचा देगा? ऐसा हो सकता है क्या? नीचा मन तो जो भी करेगा, वो काम भी नीचा ही होगा। तभी तो मजबूरी से जब उत्तर-पुस्तिका में लिखते हो तो उसमें भी क्या दिखाई देती है? मजबूरी ही तो दिखाई देती है, या उत्कृष्टता दिखाई देती है कि, "वाह! संगीत बह रहा है उत्तर पुस्तिका में", ऐसा तो नहीं होता, या होता है?

कल तुम्हारे कॉलेज में मैंने कहा था, "प्यार करो या छोड़ दो।" 'प्यार करो' का मतलब समझना। 'प्यार करो' का मतलब यह नहीं होता है कि अपनी किताब को चूमने लग जाओ। 'प्यार करो' का मतलब यह भी नहीं होता कि दिन-रात किताब का ही ध्यान कर रहे हो। 'प्यार करो' से मतलब होता है कि जब तक हैं साथ में, तब तक उसके साथ पूरे तरीके से हैं। बड़ा साधारण सा मतलब है प्यार करने का। अगर मैं अपनी पढ़ाई से प्यार करता हूँ तो इसका यह मतलब बिलकुल भी नहीं है कि तुम्हारे ९५ प्रतिशत अंक आने चाहिए।

अगर मैं अपनी बात भी करूँ तो जो विषय मुझे बहुत भाते भी थे, उनमें भी मैं कोई अव्वल नहीं आता था। हाँ, अंक बुरे नहीं आते थे, अंक हमेशा अच्छे ही आते थे। पर अंक जब उदेश्य ही नहीं है, तो अव्वल नहीं आ पाओगे। अव्वल होने के लिए तो फ़िर अव्वल आने वाली मानसिकता चाहिए, कि निशाना ही पदक पर है।

प्यार करने का बस इतना सा ही मतलब है कि जब पढ़ रहे हैं तो बस पढ़ रहे हैं, और यह काफ़ी है। उसके बाद अंक शायद ६० आएँ, या फ़िर ८० भी आ सकते हैं, या कौन जाने ९५ आ जाएँ; ६० का भी मैं क्यों हवाला दूँ, ३० पर भी अटक सकते हो, तो फ़िर ठीक है, कभी ३० का स्वाद भी चख लेना, वैसे भी चखते ही रहते हो। कौन-सी आफ़त आ जानी है।

जैसे अभी तुमने कहा न कि बाकी काम करता हूँ, और वो ठीक-ठाक रहते हैं, वैसे ही पढ़ाई को भी कुछ ख़ास मत समझो। जिस सहज भाव से बाकी काम करते हो, उसी सहजता से पढाई भी कर लिया करो। शान्तिपूर्वक पढ़ा, और पढ़ने के बाद छोड़ दिया। अब क्या कर रहें हैं? अब कुछ भी कर रहें हैं, बैठे हैं इन्टरनेट पर, ठीक है। अभी नहीं पढ़ रहे, और जब नहीं पढ़ रहे तो बस नहीं पढ़ रहे। और कोई अगर तब कहने आए कि, "तुम पढ़ क्यों नहीं रहे हो?" तो कहना, "नहीं पढ़ रहे तो बस नहीं पढ़ रहे, हमारी मर्ज़ी! ना पढ़ रहे हैं और ना अगले दो घण्टे पढेंगे, और हमें तकलीफ मत देना। ना तुम्हारे कहने से पढ़ेंगे और ना तुम्हारे कहने से पढ़ना बंद कर देंगे।"

ना कमज़ोरी ना ताकत, बस सहज बहाव।

खेले तो खेले, पढ़े तो पढ़े, बोले तो बोले और चुप रहे तो चुप रहे। किसी चीज़ को लेकर के ग्रंथि नहीं बाँध ली। किसी चीज़ को मन में चक्कर नहीं कटा रहें हैं कि “मेरा रिज़ल्ट क्या आया होगा, मुझे अब पढ़ना चाहिए।” अरे, जब पढ़ना था तब पढ़ लिया। अभी सोच रहे हो क्या कि कल फ़ुटबाल खेलना है? नहीं सोच रहे न, वैसे ही यह भी मत सोचो कि कल पढ़ना है।

सोच कर करने से कुछ ख़ास नहीं हो जाता। असल में हम सोचते हैं कि कुछ कर लो, और जो बचे उसे सोच लो। तुम देखो न कि तुम बिलकुल यही करते हो कि नहीं? तुम्हें दस काम करने थे, तुम चार काम कर लेते हो और बाकी छह के बारे में सोच लेते हो। तो चार कर लिए और छह सोच लिए — कुछ करो और कुछ सोचो।

और उम्मीद कुछ ऐसी रहती है कि सोचने से करने की क्षतिपूर्ति हो जाएगी। तुम सोचते ही उसी के बारे में हो जो करना बाकी है। तुम्हें करना होता तो कर डाला होता। करना तुम्हें था नहीं, तो तुम क्या करोगे? सोचोगे! और फ़िर उसमें हज़ार तरीके की आफतें हैं। “मैं कमज़ोर हूँ; मैं ताकतवर हूँ।” ‘मैंने कर लिया’, इससे क्या सिद्ध होता है? कि ये सब मेरी ताकत है, और ‘मैं नहीं कर पाया’, उससे क्या सिद्ध होता है? कि ये सब मेरी कमज़ोरी है।

दुनिया ने वैसे भी पचास बातें तुम्हारे दिमाग में डाल रखी हैं और तुम विचारों को ऊर्जा दे करके और तैयार हो जाते हो यही सब सोचने के लिए।

कुछ भी ख़ास नहीं है। कभी फेल भी हो सकते हो, तो उसमें क्या हो गया? क्या गजब हो गया अगर फेल हो गए तो? कुछ ख़ास नहीं हो गया। और कभी तुम हो सकता है बड़े अच्छे अंक लेकर आओ, तो भी क्या हो गया, कुछ ख़ास नहीं हो गया। अगर तुम चार रोटी खाते हो तो किसी दिन तीन भी तो खा जाते हो और किसी दिन पाँच भी तो खा जाते हो, या नहीं होता है ऐसा? कि बिलकुल चार ही खाते हो रोज़? या कहोगे कि, “यह मेरी कमज़ोरी का सबूत है कि आज तीन ही खा पाया और ताकत बढ़ रही है तो आज पाँच खा गया?”

मस्त रहो बिलकुल। तुम बिलकुल कमज़ोर नहीं हो; तुम ताकतवर भी नहीं हो। क्या समझ में आया?

प्र३: कि जैसे हैं, वैसे ही रहना चाहिए।

आचार्य: कैसे हैं? कमज़ोर हैं या ताकतवर हैं?

प्र४: ना कमज़ोर हैं और ना ताकतवर।

आचार्य: फ़िर कैसे हैं?

(हँसते हुए) बोलो कि, "क्यों बताएँ, यह कोई सवाल है? काम धंधे की बात करनी है तो करिए।" हाँ, यह ठसक ज़रा विकसित करो, नहीं तो दुनिया चढ़ जाएगी। कोई आकर कहेगा, “अरे, रात भर मुँह डाल लिया करो पानी में तो रात भर भीग कर ज़रा फूल जाएगा, बड़ा हो जाएगा।”

दुनिया का क्या है, वो तो किसी भी चीज़ को कमज़ोरी बना देगी।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2016)

दमित जीवन ही उत्तेजना माँगता है

प्रश्नकर्ता: सर, कल मेरे साथ एक दुर्घटना हुई। उसके बाद एक सुरूर-सा छा रहा है। ऐसा क्यों हो रहा है?

आचार्य प्रशांत: हम इतनी छोटी, तेजहीन और ओछी ज़िंदगी जीते हैं कि उसमें किसी भी प्रकार की असुरक्षा के लिए, ख़तरे के लिए, यहाँ तक कि विविधता तक के लिए भी जगह नहीं होती है।

एक राजा की कहानी है। उसने पूरी सुरक्षा के लिए एक महल बनवाया। महल बहुत मज़बूत, अभेद्य दुर्ग। उससे किसी ने पूछा, "दीवारें तो बहुत मज़बूत हैं, पर क्या दरवाज़े मज़बूत हैं?" उसे किसी ने सलाह दी कि दरवाज़े भी उतने ही मज़बूत होने चाहिए। तो उसने दीवारों से दरवाज़े भी ढक दिए, और सिर्फ एक दरवाज़ा छोड़ा। उसे फिर किसी ने सलाह दी कि ख़तरे के आने के लिए तो एक दरवाज़ा भी काफ़ी है, तो यह भी बंद कर दो। और अंततः उसने अपने किले को ही अपना ताबूत बना लिया। वो किला उसका मकबरा बन गया।

हमारा जीवन करीब-करीब ऐसा ही है। फर्क नहीं पड़ता कि हमने जीवन के कितने साल बिता लिए हैं, लेकिन डर के मारे हम किसी भी प्रकार के खतरे के करीब भी नहीं गए होते हैं। जो खतरे, जो चुनौतियाँ जीवन अपनी सामान्य गति में भी प्रस्तुत करता रहा है, हम उनसे भी डर-डर कर भागे होते हैं। हमने अपनेआप को लुका-छिपा कर रखा होता है। नतीजा यह होता है कि एक तो हम खौफ में और धँसते चले जाते हैं, और दूसरा यह कि एडवेंचर , रोमांच किसी तरह हासिल करने की हमारी इच्छा बढ़ती जाती है।

जो बंद दरवाज़ों में जी रहा है, उसे बड़ी इच्छा उठेगी कि किसी तरह जीवन में थोड़ी तो गर्मी आए, कुछ तो ऐसा हो जिससे धड़कन बढ़े, कुछ तो ऐसा हो जिससे ज़रा खून दौड़े। तुम्हारे जीवन में शायद ऐसा कुछ है ही नहीं। शायद हर प्रकार के ख़तरे तो तुमने अपने से बिलकुल दूर रखा हुआ है। उससे फिर विकृति पैदा होती है।

दो गाड़ियों की दुर्घटना हुई, गाड़ियाँ पलट गईं। इसमें तुमने ईमानदारी से लिखा है कि तुम्हें ज़रा सुरूर-सा आया। वो सुरूर इसलिए आया क्योंकि तुम्हें अनजाने में ही सही, संयोगवश ही सही, एक प्रकार का रोमांचक खेल मिल गया।

जो तुम्हें ज़िन्दगी भर हासिल नहीं हुआ था, वो तुमको ऐसे हासिल हो गया।

तुमने देखा होगा लोगों को, लोग ज़बरदस्ती गाड़ी दौड़ाते हैं। पहाड़ पर जाकर रस्सी-वस्सी ले कर कूद जाते हैं, और यह सब कुछ एक व्यवस्थित खेल के नाम पर चलता है। यह सब कुछ नहीं है, यह विकृतियाँ हैं क्योंकि आपने आम-रोज़मर्रा के जीवन को बिलकुल कवच से ढक रखा है। उसमें खतरा लेशमात्र भी आपने छोड़ा ही नहीं है। किसी भी प्रकार के विकल्प के लिए कोई जगह नहीं छोड़ी है। जो है, सब तयशुदा है। और जो तयशुदा है, वह सिर्फ उबाता है, उसमें सिर्फ बोरियत होती है।

आपको अच्छे से पता है कि आप सुबह उठ कर कहाँ जाओगे, आपको अच्छे से पता है वहाँ क्या होगा। आपको यह भी पता है कि आप वापस लौट कर कहाँ आओगे। आपको यह भी पता है कि वहाँ आपको कौन-से चेहरे मिलेंगे, आपको यह भी पता है कि वो आपसे किस तरह की बातें करेंगे, आपको यह भी पता है कि उसके बाद क्या होगा, और अगला दिन भी वैसा ही होगा। सब कुछ तो तयशुदा है।

जब सब कुछ इतना तयशुदा हो जाता है, तो मन का एक कोना विद्रोह करता है। वो कहता है, "भले ही मौत का ख़तरा हो, लेकिन कुछ तो अलग हो।" तुम्हें कुछ अलग मिला, इसीलिए तुम्हें वो अच्छा लगा। भले ही वो मौत के ख़तरे के साथ मिला, मौत से बहुत दूर नहीं थे तुम। मौत का ख़तरा मिला, पर पल दो पल जी तो लिए। कुछ तो ऐसा हुआ जो अलग था! ज़रा-सा ढाँचा तो टूटा।

यह तो सौ बार हुआ है कि मुरादाबाद से चले हैं और दिल्ली उतर गए हैं। आज ज़रा कुछ अलग तो हुआ। ज़रा मुर्दे में जान तो आई! नहीं तो क्या था। गाड़ी में पीछे सो रहे थे आलसी की तरह, फिर आते, उतर जाते, जा कर पड़ जाते बिस्तर पर। यह तो पहली बार हुआ कि गाड़ी के चारों टायर ऊपर हैं, और खिड़की, दरवाज़े तोड़ कर बाहर आ रहे हैं और अस्पताल-थाना चल रहा है।

मज़ा तो आया ही होगा। पर यह जो मज़ा है, यह सिर्फ तुम्हारे जीवन की नीरसता का द्योतक है। जीवन ऐसा ऊब से भरा हुआ है कि तुम किसी भी कीमत पर ज़रा चहल-पहल चाहते हो।

यह सन्देश है — या तो स्वयं ही ज़रा जीवन को खोल दो असुरक्षा के प्रति, चुनौतियों के प्रति, नहीं तो इतने बीमार हो जाओगे कि रोमांच के लिए किसी दिन किसी दस-मंजिली इमारत से कूदने तो तैयार हो जाओगे, कि कुछ तो नया होगा। जिनके जीवन में कुछ नया नहीं होता, उनके साथ फिर यही होता है।

जिनका जीवन यूँ ही चुनौतियों से, और खतरों से हर पल खेल रहा होता है, उन्हें फिर रोमांच की ज़रूरत नहीं पड़ती। वो बहती नदी को देख कर पागल नहीं हो जाते कि हमें इसमें कूद जाना है। तुम जाते हो और नदी को देख कर बिलकुल पागल हो जाते हो कि कूदना है, तो इससे यही पता चलता है कि तुम्हारा रोज़मर्रा का जीवन बड़ा थका हुआ है।

तुम्हारा कोई भरोसा नहीं। तुम्हारी ऊब बरक़रार रही तो तुम ऐसी स्थितियाँ पैदा कर दोगे कि और दुर्घटनाएँ हों। "बड़ा अच्छा लगता है- लोहे का लोहे से घिसना, वो चिंगारियों का उठाना, वो गाड़ी का गोल घूम जाना, वो सड़क पर फैला हुआ शीशा, वो चीख-पुकार, कि कुछ हुआ तो। हम किसी बड़ी घटना का हिस्सा तो बने। अन्यथा हमारे जीवन में कुछ बड़ा घट ही नहीं रहा है। क्या बड़ाई है इसमें कि गाड़ी में पीछे बैठे हैं, बैठाए गए, और फ़िर उतारे गए। फिर बैठाए गए, फिर उतारे गए। रोज़ यही चलता रहता है।"

यह उत्तेजना की चाह सिर्फ़ एक गलत जीवन से निकलती है। क्योंकि जीवन में अन्यथा कुछ होता नहीं, इसीलिए आपको उत्तेजना चाहिए होती है। उत्तेजना की चाह यही बता रही है कि जब सही मौका आपके सामने होता है कुछ कर पाने का, तब आप उस मौके से डर कर पीछे हट जाते हैं। तुम्हारे हाथ में होता तो तुम यह दुर्घटना थोड़े ही होने देते। यह तो हो गई। तुमसे पूछ कर होती तो तुम ही रोक ही देते।

तुम्हारे हाथ में हो तो तुम बंधे-बंधाए जीवन में ज़रा-सा भी परिवर्तन नहीं आने दोगे। पर काफ़ी बड़ा परिवर्तन आ गया, और बिना तुमसे पूछे आ गया। तुमने ठीक कहा, "कुछ तो नया हुआ।" यह करीब-करीब वैसा ही है जैसे समझ लो कि कोई बहुत पुरानी कहानी चल रही हो, जो तुम हमेशा से जानते हो, और तुम्हें विवश किया जा रहा हो उसे पाँच-सौवीं बार देखने के लिए। और उस कहानी में धोखे से ही सही, कुछ अलग होने लग जाए, तो तुम्हारी नींद खुल जाएगी। वैसे तुम ऊँघ रहे होओगे।

मान लो तुम्हारे सामने महाभारत चल रही है, और तुम अच्छे से जानते हो कि आगे क्या होगा। अर्जुन रोएगा कि- “मुझे मारना नहीं है”, और फिर कृष्ण खड़े होंगे और कहेंगे कि, “सुन गीता”, फिर थोड़ी देर में अर्जुन मान जाएगा और बाण चलाएगा। पहले भीष्म मरेंगे, फिर द्रोण जाएँगे, फिर यही सब कुछ है।

यह सब तुम्हारे सामने चल रहा हो, तो तुम झपकी मार रहे होंगे कि अब कुछ नया हो जाए, जैसे तुम्हारी कार की दुर्घटना हुई थी। कि कृष्ण बोल रहे हैं अर्जुन को कि, “तू लड़”, और अर्जुन चढ़ बैठे कृष्ण के ऊपर, बात ही उलटी हो जाए, जैसे तुम्हारी गाड़ी उलटी हुई थी। अब तुम कहोगे, “कुछ हुआ, अब कुछ सुरूर-सा आया।” या तुम्हें युद्ध के मैदान में द्रौपदी दिख जाए, तो तुम कहोगे, “गलत ही सही पर यह महाभारत ज़्यादा ठीक है। देख-देख कर कि, ‘हे अर्जुन’, कान पक गए। कुछ नया तो लाओ। भले ही उसकी कुछ भी कीमत हो। भले ही गीता चली जाए, पर कुछ नया लेकर आओ।”

तुम्हारा मन नए के लिए कलप रहा है, उसे कुछ नया दो। और नए में हमेशा ख़तरा होता है। अगर उसे सहज ख़तरा नहीं दोगे, तो वो इस प्रकार का अनौचित्यपूर्ण ख़तरा अपने ऊपर ले लेगा। यह सब लोग जो ड्रग्स वगैरह लेते हैं, यह क्या कर रहें है? इनको जीवन का जो सहज-साधारण सुरूर है वही उपलब्ध नहीं है, तो इसलिए यह एक दूसरे तरीके का, भ्रान्तिपूर्ण, ख़तरनाक नशा करना शुरू कर देते हैं।

तुम्हें ताज्जुब नहीं होना चाहिए अगर किसी को यही नशा हो जाए कि, “मुझे तो गाड़ी में बैठ कर उसे भिड़ाने में आनंद आता है!" यह नशा है, यह ड्रग्स की तरह ही है। यह नशा इसलिए है क्योंकि जीवन बेरौनक, जीवन रसहीन है। जब जीवन बेरौनक और रसहीन होता है, तब तुम जानते नहीं हो कि तुम्हारी वृत्तियाँ तुम्हारे साथ क्या-क्या खेल खेल जाती हैं।

हो सकता है कि तुम पूरा विचार ना करो, हो सकता है कि तुम पूरी योजना ना बनाओ, लेकिन भीतर-ही-भीतर तुम्हारी वृत्ति तुम्हारे साथ खेल खेल देती है, और ऐसी घटनाएँ पैदा कर देती है कि तुम्हारी गाड़ी जाकर किसी से भिड़ जाए। तुम उसको संयोगवश हुई दुर्घटना मत समझना। तुम्हारी वृत्ति ने पूरा इंतज़ाम किया था। “कुछ नया तो हो!”

कोई भी घटना ऊपर से जैसी दिखती है, वैसी ही हो, यह आवश्यक नहीं है। पता नहीं कितने किस्से हैं पूर्वनियोजित दुर्घटनाओं के। तुम्हारा मन अभी क्या आयोजन करने में व्यस्त है, तुम जानते नहीं, क्योंकि तुम अपनेआप को जानते

नहीं।

तुम अगर जीवन से बिलकुल उकता चुके हो, तो बहुत संभावना है कि तुम्हारी दुर्घटना हो जाए। इस दुर्घटना को संयोग मत मान लेना। यह तुम्हारे अंतर मन की चीत्कार है, वो जीना नहीं चाहता। वो खुद ऐसी स्थितियाँ पैदा कर रहा है जिसमें तुम्हारी मृत्यु हो जाए।

मन क्या कर रहा है, कहाँ को जा रहा है, इसके प्रति ज़रा सतर्क रहो। कुछ भी यूँ ही नहीं हो जाता। कुछ भी यूँ ही नहीं पसंद आता।

जीवन के प्रति ज़रा खुलो। जब मन स्वस्थ होता है तो उसको फिर मिर्च-मसाले की बहुत आवश्यकता नहीं पड़ती।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2015)

जिम्मेदारी माने क्या?

आचार्य प्रशांत: (प्रश्नकर्ता की ओर इशारा करते हुए) संदीप पूछ रहा है, "अपने ही लिए जीना चाहिए या दूसरों के लिए भी? हमारी कुछ ज़िम्मेदारियाँ हैं जिन्हें हमें निभाना पड़ेगा जैसे बेटा हूँ, भाई हूँ।" चलो, संदीप खुद ही बोलो।

प्रश्नकर्ता: सर, अब तक तो हम सोच रहे थे कि जिम्मेदारियों को भी निभाना चाहिए जैसे किसी ने हमको जन्म भी दिया है तो उसको तो पूरा करना पड़ेगा।

आचार्य: बिलकुल ठीक है। तो उसमें अड़चन कहाँ है?

प्र: सर, कभी-कभी लगता है कि जो लोग उम्मीद करते हैं, वो सब एक स्वार्थ रखते हैं मुझसे।

आचार्य: वो बात भी ठीक है उसमें अड़चन कहाँ है? देखो, तुम जिससे भी सम्बंधित हो जिस भी तरीके से, वहाँ ज़िम्मेदारी तो है ही। तुम अगर अभी मेरे सामने बैठे हो तो मेरी तुम्हारे प्रति कुछ ज़िम्मेदारी है। तुमने एक सवाल लिखा है तो उसे लेना ज़िम्मेदारी है। और तुम मेरे सामने बैठे हो तो तुम भी मुझसे सम्बंधित हो और तुम्हारी भी कुछ ज़िम्मेदारी है– शान्ति से बैठना, स्वयं ध्यान से सुनना, औरों को ध्यान से सुनने देना तुम्हारी ज़िम्मेदारी है, है न? तो हम जहाँ भी हैं जैसे भी हैं ज़िम्मेदारी तो प्रतिक्षण होती है। अड़चन कहाँ पर है?

आप किसी घर में पैदा हुए, पले-बढ़े, उन्होंने आपको रक्षा दी, ज्ञान दिया और आज भी वो आपके साथ हैं, आपका भरण-पोषण भी उन्हीं से है तो इसमें कोई शक नहीं कि ज़िम्मेदारी है आपकी। इसमें दिक्कत क्या है? बड़ी यह एहसानफ़रामोशी की बात होगी न कि आप कह दें कि, "मेरी कोई ज़िम्मेदारी ही नहीं!" कि नहीं होगी? बीस साल तक जिसके मत्थे तुमने देह बनाई, साँसें ली, रुपया-पैसा लिया, सुरक्षा ली, आत्मीयता ली, आज तुम खड़े होकर कह दो कि, “नहीं मेरी कोई ज़िम्मेदारी ही नहीं है”, तो यह तो कुछ अमानवीय सी बात हो गई। ज़िम्मेदारी तो है ही है।

सड़क पर एक जानवर भी घायल पड़ा हो तो उसके प्रति भी ज़िम्मेदारी होती है। घायल न भी पड़ा हो, तुम्हारी गाड़ी के रास्ते में आ रहा हो तो भी तुम्हारी कुछ ज़िम्मेदारी होती है। तो घर वालों के प्रति, माँ-बाप के प्रति तुम्हारी ज़िम्मेदारी निश्चित रूप से है इसमें कोई शक ही नहीं। अड़चन कहाँ पर है?

अड़चन यह है बेटा, कि ज़िम्मेदारी क्या है ये तुम्हें पता नहीं। ज़िम्मेदारी तो है ही है, पर उस ज़िम्मेदारी के मायने क्या

हैं यह तुम्हें पता नहीं है। तुम्हें पता ही नहीं है कि तुम्हारी ज़िम्मेदारी क्या है! ज़िम्मेदारी तो तुम्हारी पूरे विश्व के प्रति है। पर क्या तुम्हें पता है कि तुम्हारी क्या ज़िम्मेदारी है?

किसी के प्रति क्या ज़िम्मेदारी है यह जानने के लिए पहले तुम्हें उसको जानना पड़ेगा, उससे अपने सम्बन्ध को जानना पड़ेगा, और मूल में खुद को जानना पड़ेगा। जब तुम ना उसको जानते, ना रिश्ते को जानते, ना खुद को जानते तो तुम ज़िम्मेदारी को कैसे जान जाओगे?

ज़िम्मेदारी का मतलब होता है – उचित कर्म।

"मैं क्या करूँ?" इस सम्बन्ध में, इस रिश्ते में, इस क्षण में, इस व्यक्ति के साथ क्या उचित है करना, ये होती है ज़िम्मेदारी। सम्यक कर्म, राइट एक्शन – यह होती है ज़िम्मेदारी और उसके लिए, जैसा कि हम पहले भी कई बार बात कर चुके हैं, अंग्रेजी का शब्द बड़ा खुलासा करता है –*रेस्पोंसिबिलिटी*। रेस्पोंस दे पाना, यह क्षमता; उचित रेस्पोंस , यह नहीं कि कुछ भी कर दिया।

माँ ने कुछ कहा अब तम्हें पता ही नहीं है कि क्या उत्तर दूँ। घर में कोई स्थिति आई, अब तुम्हें पता ही नहीं है कि इस स्थिति में क्या उचित है तुम्हारे लिए करना। पति से या पत्नी से तनाव रहता है, तुम जानते ही नहीं हो कि यह तनाव क्या चीज़ है, तुम्हें क्यों रहता है, दूसरे व्यक्ति को क्यों रहता है, और रहता है तो इसका विघलन कैसे हो सकता है। तुम्हें पता ही नहीं है तो तुम कैसे अपनी ज़िम्मेदारी पूरी करोगे? शोर तो सब मचाते हो कि जिम्मेदारियाँ हैं, जिम्मेदारियाँ हैं। पर मैं तुमसे कह रहा हूँ जितना शोर मचाते हो उतने ही गैर ज़िम्मेदार हो।

ज़िम्मेदारी के केंद्र में समझदारी होती है। ये बात बिलकुल गाँठ बाँध लो। बिना समझदारी के कोई ज़िम्मेदारी नहीं होती।

ज़िम्मेदारी कोई बोझ थोड़े ही है कि दुनिया ने तुमको बता दिया कि, “सुनो भाई, तुम्हारे यह-यह कर्त्तव्य हैं और इनको तुम्हें पूरा करना है” और किसी ने तुमको एक लिस्ट थमा दी, चेक लिस्ट और उसमें डब्बे बने हुए हैं और तुमसे कह दिया गया *टिक द बॉक्सेस*। जो-जो जिम्मेदारियाँ पूरी करते जाओ ज़रा उस पर निशान लगाते जाओ।

यह तो बड़ी ही भोंडी चीज़ हुई!

गाड़ी की जब सर्विसिंग कराने ले जाते हो तो वो ऐसा करते हैं कि चौदह प्रक्रियाओं की क्रिया है और वो टिक करते जाते हैं। "हो गई, हो गई, हो गई, हो गई, हो गई।" शाम को जब तुम जाते हो तो तुम्हें दे देते हैं कि हमने अपनी ज़िम्मेदारी पूरी कर ली अब आप अपनी पूरी करिए, पैसा निकालिए।

अब लेन-देन व्यापार तो नहीं है ज़िम्मेदारी। अगर ज़िम्मेदारी के केंद्र में समझदारी है तो सबसे पहले तो यह जानो कि जो समझदारी के दुश्मन हैं वो ही ज़िम्मेदारी के भी दुश्मन होंगे। समझदारी के क्या-क्या दुश्मन होते हैं? किन परिस्थितियों में, मन की किन अवस्थाओं में तुम्हारी समझ बिलकुल गायब हो जाती है? वही स्थितियाँ ज़िम्मेदारी की भी दुश्मन होंगी। जल्दी बताओ समझदारी के क्या दुश्मन हैं?

प्र: डर।

आचार्य: डर। देखो, समझो। वो ज़िम्मेदारी का भाव जो डर से उठता हो, निश्चित रूप से झूठा होगा। तुम्हें यह अपने-आप से पूछना पड़ेगा कि तुम वास्तव में ज़िम्मेदारी उठाना चाहते हो या सिर्फ़ डरे हुए हो कि, “अगर मैंने ज़िम्मेदारी नहीं उठाई तो दुनिया क्या कहेगी, अगर मैंने ज़िम्मेदारी नहीं उठाई तो लोग थू-थू करेंगे, अगर मैंने ज़िम्मेदारी नहीं उठाई तो मैं खुद को ही शक्ल कैसे दिखाऊँगा?” क्या डर के साथ समझना संभव है?

प्र: नहीं।

आचार्य: तो जब डर में समझदारी संभव नहीं तो डर में ज़िम्मेदारी भी संभव नहीं। ठीक है। समझदारी के और क्या दुश्मन होते हैं?

प्र: लालच।

श्रोतागण: अहंकार।

आचार्य: अहंकार और? कब होता है कि तुम समझ ही नहीं पाते?

प्र२: डिज़ायर्स (इच्छाएँ)।

आचार्य: कामना। और?

प्र३: व्यसन।

प्र४: चालाकी।

आचार्य: चालाकियाँ, और? इन सब हालातों में तुम्हारे लिए असंभव है अपनी ज़िम्मेदारी को जान पाना। तुम कुछ करोगे ज़रूर, पर जो भी करोगे वही गैर-ज़िम्मेदारी होगी। और?

प्र५: ईर्ष्या।

आचार्य: ईर्ष्या। समझ का आपने पहला दुश्मन बोला था डर, डर आपको दूर रखता है। इसी तरीके से समझ का दूसरा दुश्मन होता है राग या आसक्ति। डर आपको समझने नहीं देता क्योंकि वो आपको दूर रखता है। आप जिससे डरते हो उसको आप समझ नहीं पाओगे, दूर-दूर रहोगे और आसक्ति आपको समझने नहीं देती क्योंकि वो आपको बिलकुल चिपका देती है। एक बार आप चिपक गए तो भी आप समझ नहीं पाते। तो हमने कहा कि आप ज़िम्मेदारी नहीं पूरी कर सकते डर के माहौल में और हम में से ज़्यादातर लोग ज़िम्मेदारियाँ?

प्र: डर से ही करते हैं।

आचार्य: डर-वश ही निभाना चाहते हैं। अब हम दूसरी बात कह रहे हैं कि आप जिम्मेदारियाँ नहीं पूरी कर सकते आसक्ति के माहौल में, और त्रासदी देखिए कि अक्सर आप उन्हीं लोगों के प्रति ज़िम्मेदारी निभाना चाहते हैं जिनसे आप आसक्त होते हैं। आपको अपने घर वालों से बड़ा मोह है, बड़ा राग है, आसक्ति। और आप उन्हीं के लिए कहते हैं कि आपको ज़िम्मेदारी निभानी है और सत्य यह है कि जहाँ मोह है वहाँ समझ नहीं हो सकती। यानि कि माँ-बाप के प्रति, स्वजनों के प्रति, घर वालों के प्रति ज़िम्मेदारी निभाना या ज़िम्मेदारी को जान पाना असंभव है क्योंकि आप उनसे आसक्त हैं। अब आप फँस गए क्योंकि आसक्ति के कारण ही आप ज़िम्मेदारी निभाना चाहते हो।

आप ज़िम्मेदारी निभाना ही इसलिए चाहते हो क्योंकि वो आपको बड़े प्रिय हैं, है न? आपका मोह लग गया है उनसे। और चूँकि आपको मोह लग गया है, तो आप कहते हो कि, “ज़रा मैं अपनी ज़िम्मेदारी पूरी कर लूँ इनके लिए। ज़रा मैं कुछ ऐसा करूँ जिससे इनका कुछ फायदा हो जाए। आप उनका कोई फायदा कर ही नहीं पाओगे। क्यों? (हँसते हुए) क्योंकि बिना समझदारी के किसी का कोई फायदा करा नहीं जा सकता। और जहाँ मोह है, वहाँ समझ नहीं हो सकती। तो यह एक दूसरी शर्त बंध गई।

पहली शर्त यह थी कि जिनके प्रति ज़िम्मेदारी पूरी करनी हो उनसे डरना मत, और दूसरी शर्त सामने आ गई कि जिनके प्रति ज़िम्मेदारी पूरी करनी हो उनसे मोह मत रखना। ना राग, ना द्वेष। अब आप कहोगे कि, “जब उनसे मोह ही नहीं तो उनके प्रति ज़िम्मेदारी कहाँ बची?” निन्यानवे-प्रतिशत लोगों के साथ यही होगा वो कहेंगे कि "मोह गया, तो अब कौन सी ज़िम्मेदारी? हमारा कोई रिश्ता ही नहीं इसके साथ, रिश्ता ही मोह का था।" यह हमारी आम-तौर की जिम्मेदारियों का सच है। मोह से पनपती हैं। मोह ना रहे तो ज़िम्मेदारी भी नहीं रहेगी।

जिस दिन तक कुत्ता आपके दरवाज़े बंधा है, बड़ी ज़िम्मेदारी है। रोटी दे दो, पानी दे दो, नहला-धुला भी दो, गर्मी लग रही है उसको, तो छाया भी दे दो। जिस दिन आपका कुत्ता गया किसी और दरवाज़े उस दिन सारी ज़िम्मेदारी ख़त्म। 'मेरा' नहीं रहा न अब। कुत्ते से नहीं था कोई सम्बन्ध, ‘मेरेपन’ से था; 'मेरा कुत्ता'। कुत्ता अभी भी वही है। 'मेरा' नहीं रहा। मोह था।

तो ऐसे में जिम्मेदारियाँ ऐसी ही होती हैं। "जिस दिन तक मेरे हो उस दिन तक तुम्हारे लिए कुछ करूँगा, और जिस दिन मेरे नहीं हो उस दिन करना भी बंद हो जाएगा। और जब तक करूँगा भी तुम्हारे लिए, कुछ मोहित होकर करूँगा तो उल्टा-पुल्टा ही करूँगा।" यह तो तुम खूब काम आए हमारे! जब तक हमारे लिए किया उल्टा-पुल्टा किया। फ़ायदा छोड़ दो, तुमने जो करा उससे हमारा नुकसान ही किया। और जिस दिन मोह छूटा, उस दिन जो करते थे वो करना बंद कर दिया। इसमें किसी को क्या मिल रहा है दुःख और कष्ट के अलावा?

तो संदीप, ज़िम्मेदारियाँ बिलकुल निभानी हैं। सिर्फ़ घर वालों के प्रति नहीं, मैं कह रहा हूँ प्रत्येक अवसर पर, प्रत्येक आयोजन पर, जो भी तुम्हारे आस-पास हैं चाहे इंसान, चाहे जानवर, चाहे ज़मीन, चाहे कपड़ा, तुम्हारी ज़िम्मेदारी हर जगह बनती है, हर समय बनती है। लेकिन तुम अपनी ज़िम्मेदारी जान तभी पाओगे जब ना डरे हुए हो ना आसक्त हो। यह दोनों मूल दुश्मन हैं समझदारी के। इनको हटा दो, तुरंत स्पष्ट हो जाएगा कि अब तुम्हारी ज़िम्मेदारी क्या है। और कोई यह न सोचे कि इनको हटाने के बाद तुम्हारा कोई रिश्ता ही नहीं बचेगा।

समझदारी और प्रेम बिलकुल साथ-साथ चलते हैं। जहाँ मोह है और डर है वहाँ प्रेम भी नहीं है। तुम प्रेम को मोह ना जान लेना। रिश्ते में प्रेम भी तभी रहता है जब मोह नहीं रहता। अहंता और ममता ये दोनों बिलकुल एक हैं।

जहाँ ममता है वहाँ प्रेम नहीं हो सकता। जहाँ अहंता है वहाँ प्रेम नहीं हो सकता।

जब डर जाता है, मोह जाता है, तब न सिर्फ़ समझदारी का सूरज उगता है बल्कि प्रेम का गीत भी उठता है। दोनों एक साथ होते हैं। सुबह-सुबह देखा है कभी क्या होता है? सूरज का उगना और चिड़ियों का चहचहाना दोनों एक साथ होते हैं। एक समझ लो बोध है और दूसरा समझ लो प्रेम है। बल्कि चिड़िया तो सूरज के उगने से थोड़ी देर पहले से ही चहचहाने लगती है।

प्रेम असल में बोध से भी ज़रा सा ज़्यादा समझदार होता है, ज़रा सा ज़्यादा। कोई पूछे यदि कि, "प्रेम और बोध में पहला कौन है?" तो कुछ कहना नहीं चाहिए। लेकिन अगर ज़ोर ही दे-दे कि, "बताओ प्रेम और बोध में पहला कौन?" तो भूलना नहीं कि भक्ति ज्ञान की माता है। प्रेम भी समझदारी के साथ ही चलता है। डर हटाओ, मोह हटाओ तभी रिश्तों में प्रेम भी पाओगे। अभी तो तुम बस ज़िम्मेदारी निभाना चाहते हो क्योंकि डरे हुए हो, इसलिए नहीं तुम

निभाना चाहते कि प्रेम है तुम्हारा।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2015)

हमारी खुशियाँ दूसरों पर निर्भर क्यों?

प्रश्नकर्ता: हमारी खुशियाँ दूसरों पर निर्भर क्यों होती हैं?

आचार्य प्रशांत: पूछ रहे हो हमारी खुशियाँ दूसरों पर निर्भर क्यों होती हैं। हमारा सब कुछ ही दूसरों पर निर्भर है। क्या तुम्हारे दुःख दूसरों पर निर्भर नहीं हैं? क्या सिर्फ़ तुम्हारी खुशियाँ दूसरों पर निर्भर हैं? कोई आकर तुम्हें हँसा सकता है तो कोई आकर के तुम्हें रुला भी तो सकता है। तुम्हारा अपना है क्या? उदास होते हो तो दूसरों की वजह से, उत्तेजित होते हो तो दूसरों की वजह से, ऊबते हो तो दूसरों की वजह से, आकांक्षा है तो दूसरों की, और डर है तो दूसरों से, सब कुछ तो दूसरों का ही है।

हम दूसरों के प्रभावों के अलावा हैं क्या? हम, मैं – मैं माने आत्म (ज़ोर देते हुए) आत्म – आत्म को हमने जाना कहाँ है? हम तो ऐसे हैं कि जैसे एक हिस्सा इसका, एक हिस्सा उसका, एक हिस्सा उसका। जैसे मोहल्ले के सौ घरों से थोड़ा-थोड़ा खाना इकट्ठा किया जाए और उसको मिला दिया जाए, ऐसे हम हैं – खिचड़ी।

हमारा अपना कुछ है कहाँ? जब अपना कुछ नहीं होता, उसी स्थिति को गुलामी कहते हैं। तुम जो कुछ भी सोचती हो

कि पा करके ज़िन्दगी जीने लायक बनती है, तुम देखो न उसे पाने की हसरत दूसरों से ही है। कोई पैसा दे दे, कोई प्रतिष्ठा दे दे, कोई नौकरी दे दे, कोई प्रेम दे दे। अपनी हालत कैसी है? भिखारियों जैसी: कहीं और से मिलेगा, कोई बाहर वाला दे देगा।

कुछ ऐसा भी है जिसको कहते हो कि कहीं से न मिले तो भी तुम्हारे पास है? कुछ ऐसा भी है जिसको कहते हो कि देने वाले का धन्यवाद कि उसने दिया ही है? हमारे भीतर ऐसा कोई भाव ही नहीं होता कि मिला है। इसलिए हमारे भीतर कृतज्ञता नहीं होती, बस शिकायतें होती हैं। कभी तुमने गौर किया है कि हम शिकायतों से कितना भरे हुए हैं?

हर समय हमारे भीतर एक निराशा, एक कुंठा, एक विद्रोह उबलता-सा रहता है। लगातार ये लगता रहता है कि जाकर के कहीं व्यक्त कर दें कि धोखा हुआ। एक खालीपन का भाव रहता है न? सूनापन। ये लगता ही नहीं है कि मिला है कुछ। जब ये नहीं लगता है कि कुछ मिला है तो लगातार खड़े रहते हो पाने के लिए – तू दे दे, तू दे दे।

तुम अगर कभी गौर करो कि हमारा सूनापन कितना घना है तो हैरत में पड़ जाओगे। तुम सड़क पर चल रहे हो। एक आदमी आता है जिसे तुम बिलकुल जानते नहीं। उससे भी तुम्हें अभिलाषा रहती है कि वो तुम्हें थोड़ी-सी स्वीकृति तो दे ही दे। तुम सड़क पर चल रहे हो और कोई तुम्हें देखे ही न, तो तुम्हें बहुत बुरा लगेगा। तुम अनजान लोगों से भी मान्यता चाहते हो—ऐसा हमारा भिखारीपन है। तुम बाज़ार जाकर कोई नया कपड़ा खरीद कर ले आए हो, तुम पहन कर निकलो और कोई ज़िक्र ही न करे, तुम्हें पसंद नहीं आएगी ये बात।

यही इंसान का अकेला कष्ट है कि उसको आत्म मिला नहीं है। मैं की उपलब्धि नहीं हुई है — इसके अलावा कोई कष्ट होता नहीं। इसीलिए जानने वालों ने लगातार जो कहा है न कि संसार झमेला है, संसार दुःख है — उसका अर्थ यही है। उन्होंने ये नहीं कहा है कि संसार में कोई दुःख है। संसार में दुःख तब है जब तुम संसार के सामने याचक की तरह खड़े रहते हो। संसार में दुःख तब है जब तुम नहीं हो और बस संसार है, और तुम्हें संसार से अपनेआप को इकट्ठा करना है, निर्मित करना है, टुकड़ा-टुकड़ा। तब संसार दुःख है, अन्यथा संसार दुःख नहीं है।

हम सब का दुनिया से जो रिश्ता है वो बड़ी हिंसा का रिश्ता है। तुम कभी गौर करो, तुम कहती हो, “हम अपने सुख के लिए दूसरों पर निर्भर क्यों हैं?” सोचो कि अगर तुम्हें किसी से सुख की उम्मीद हो और वो तुम्हें सुख न दे, तो तुम्हारे मन में उस व्यक्ति के लिए कैसे विचार आएँगे। तुम्हें किसी से उम्मीद थी कि वो आज आकर के तुम्हें कुछ देगा

—उपहार। उसने नहीं दिया; तुम्हारे मन में उसके लिए सद्भावना उठेगी? या क्रोध उठेगा? उम्मीद टूटी। जब उम्मीद टूटती है तो कैसा लगता है?

तुम सुख की सबसे ज़्यादा उम्मीद किस से करते हो? उन लोगों से जिनसे तुम्हारा तथाकथित प्रेम का रिश्ता है। उन्हीं से तो तुम कहते हो न कि ये ज़िन्दगी में सुख देंगे, खुशी मिलेगी। और जिससे तुमने उम्मीद की उसी से तुम्हारा हिंसा का रिश्ता बन जाएगा।

हम बड़े हिंसक लोग हैं, पूरी दुनिया से हमारा हिंसा का रिश्ता है। और जो हमारे जितने करीब होता है, हम उसके प्रति उतनी ज़्यादा हिंसा से भरे होते हैं क्योंकि उससे उतनी ज़्यादा उम्मीद होती है। करीब होने का अर्थ ही यही है। बाप पड़ोसी से ये नहीं उम्मीद करेगा कि उसे पानी देगा पर बेटे से उम्मीद करेगा, और जहाँ उम्मीद है वहीं दुःख है।

इस चेतना में जीना सीखो कि हम भिखारी नहीं हैं। जब भी तुम्हारे भीतर ये विचार उठे कि दुनिया से कुछ पाना है, कुछ अर्जित करना है, कि ज़िन्दगी तो दौड़ने का और हासिल करने का नाम है, तब ये स्मरण करने की कोशिश करो कि हासिल किए बिना भी तुम बहुत कुछ हो, कि जो असली है वो तुम्हें मिला ही हुआ है और उसके लिए तुम्हें किसी के प्रमाण-पत्र की ज़रुरत नहीं है। तुम्हें दुनिया से जाकर के अनुमति लेने की ज़रुरत नहीं है कि “मैं कुछ हूँ या नही हूँ।”

दुनिया की नज़रों में तुम कुछ तभी होओगे जब तुम दुनिया के अनुसार काम करोगे। एक ठसक रखो अपने भीतर कि “जैसे भी हैं, बहुत बढ़िया हैं।” मैं अहंकार की बात नहीं कर रहा हूँ। मैं इस श्रद्धा की बात कर रहा हूँ कि “अस्तित्व मेरा हक़ है”, कि “यदि हूँ तो छोटा या बुरा या निंदनीय नहीं हो सकता।”

दुनिया में कुछ भी ऐसा है जो है तो पर उसे होना नहीं चाहिए था? दुनिया में कुछ भी ऐसा है क्या? कुछ भी ऐसा दिखा दो—छोटे-से-छोटा घास का तिनका भी ऐसा है क्या जो है तो पर उसे होना नहीं चाहिए था? है? जो भी कुछ है वो अपनी जगह पर पूरा है और ठीक है। वो कुछ बन कर ठीक नहीं होगा, वो ठीक है। वो कुछ हासिल करके जीने काबिल नहीं बनेगा, उसके होने में ही उसकी पात्रता है।

इंसान अकेला है जिसे ये लगता है कि वो ठीक नहीं है। अपने भीतर से ये भाव निकाल दो कि “मैं ठीक नहीं हूँ।” ये हीनभावना हमारे भीतर बहुत गहरी बैठ गई है। हम बड़ा छोटा अनुभव करते हैं, डरे-डरे रहते हैं। जब सब कुछ अपनी जगह पर है और सुव्यवस्थित है, तो ये संभव कैसे है कि तुम में ही कोई खोट होगी, बताओ मुझे? सूरज अपनी जगह पर है, मिट्टी अपनी जगह पर है, छोटे-मोटे कीड़े भी अपनी जगह पर हैं, और खुश हैं। कोई अड़चन नहीं है और कोई अव्यवस्था भी नही है, आउट ऑफ़ प्लेस कुछ भी नहीं है, तो तुम ही कैसे हो सकते हो?

तुम सुंदर पक्षियों की तो बात करते हो; कहते हो, “बड़े सुंदर हैं, बड़े सुंदर हैं”, सुंदर जानवरों की बात करते हो। पर जिनको तुम सुंदर नहीं भी कहते, मान लो कोई घिनौना सा कीड़ा है, होते हैं न कई जिनको देख करके ही उकताहट लगती है? वो हमारी दृष्टि है कि हम किसी को सुंदर बोलते हैं, किसी को कुरूप बोलते हैं। कोई गन्दा-सा लिजलिजा-सा कीड़ा है—क्या उसके भीतर भी ये हीनता होती है कि “मैं कुछ और बन जाऊँ”? होती है क्या? वो मिट्टी में पड़ा रहता है और तब भी मरा नहीं जा रहा तनाव में कि “क्या यार, ज़िन्दगी में कुछ हासिल नहीं किया और ये क्या रूपरंग है — गन्दा।”

पर तुम हो जिसे अपना रूपरंग बदलने की बड़ी ज़रुरत है। है कि नहीं है? तुम हो जिसे अपना व्यवहार, अपना मन बदलने की बहुत ज़रुरत है। तुम हो जिसे ज़िन्दगी में तरक्की की और हासिलियत की बहुत ज़रूरत है।

जो भी कोई इस खेल में पड़ेगा वो धोखे-ही-धोखे खाएगा। और इस बात से डर मत जाओ, प्रभावित मत हो जाओ कि पूरी दुनिया ऐसे कर रही है तो यही तो सही होगा। तुम्हें क्या पड़ी है संख्या गिनने की? तुम्हें क्या पड़ी है ये देखने की कि सब लोग क्या कर रहे हैं? तुम्हें कितनी ज़िंदगियाँ जीनी हैं; अपनी या सबकी? तुम ये देखो न कि तुम्हारे लिए क्या उचित है। तुम्हारी एक ज़िन्दगी– तुम उसके लिए देखो क्या उचित है। या तुम इसी ढ़र्रे में पड़े रहोगे कि, "सब करते हैं तो ठीक ही होगा"?

तुम्हारे पास यदि समझने की योग्यता है, जो तुम्हें बख्शी गई है — तुमने अर्जित नहीं की है — उपहारस्वरुप मिली है, बहुत बड़ी चीज़ है जो तुम्हें उपहारस्वरुप मिली है। जब तुम्हारे पास वो समझने की काबिलियत है तो फ़िर ज़िन्दगी कैसे बितानी है? संसार को देख-देख कर या फ़िर इस समझ पर?

अगर संसार को ही देख-देख कर और उन्हीं पर आश्रित रह कर जीवन बिताना होता तो तुम्हारे भीतर समझ दी ही क्यों जाती? तुमने कभी ये देखा नहीं? तुम्हें तो फ़िर मशीन होना चाहिए था कि जैसे सब चल रहे हैं वैसे ही। सारी मशीनें एक जैसी चलती हैं, तुम भी चलो। पर तुम्हें कुछ ऐसा दिया गया है जो अद्भुत है, विलक्षण है काबिलियत, क्या? कि तुम जान सको, पहचान सको, समझ सको। उसमें जियो।

....

(कानपुर, 2014)

कैसे जानूँ क्या सही क्या ग़लत?

प्रश्नकर्ता: सर, मैं अपने जीवन में बड़ा द्वंद में रहता हूँ कि मैं जो कर रहा हूँ वो सही है या ग़लत। कैसे पता चले कि क्या सही है और क्या ग़लत? यही एक सवाल हमेशा सिर पर घूमता रहता है।

आचार्य प्रशांत: तो उसके साथ जियो। जब ना पता हो कि जो चल रहा है वो क्या है, तो बस इतना कर लेना कि अपने आपको झूठा आश्वासन मत देना कि, "मुझे पता है!" इतना कर लेना। तुम तो अभी बहुत जगे हुए हो, ज़रा-सा फ़ासला है। होश है तुम्हें कि नहीं पता। बेहोशी तो ऐसी छाती है कि फिर कहते हो कि—"मुझे पता है।" तुम्हारी स्थिति तो बहुत अच्छी है। ऐसी ही रखो। नहीं पता है तो नहीं पता है। जब जो है, उसे वैसा ही रखो। उसे भ्रमित करने वाला, झूठी आश्वस्ति देने वाला नाम मत दो, भले ही उसकी कोई भी कीमत चुकानी पड़े।

बैठे होओगे किसी के सामने, और वो पूछे, "तो पक्का है तुम्हें कि तुम्हें ये नौकरी चाहिए?" तो ऐसे ही रहना। यदि पक्का न हो, तो कहना, "पक्का तो नहीं है।" कीमत चुकानी पड़ती है। तुम ये भी नहीं कह रह हो कि नहीं चाहिए,

तुम ये भी नहीं कह रहे हो कि चाहिए। तुमसे पूछा, “पक्का है?” तो तुमने कहा, “नहीं, पक्का तो नहीं है।”

किसी के प्रति आकर्षित थे, वो पूछती है तुमसे, “पक्का है कि प्रेम है?” उसका दिल रखने के लिए कह मत देना कि “हाँ, हाँ, प्रेम है।” जानते हो नहीं पक्का है, तो यही कहो कि, "कह नहीं सकता।" अब भले ही उसकी कोई भी कीमत चुकानी पड़े।

ऐसे ही रहो। जिन्हें नहीं पता होता बड़ी मज़ेदार बात है कि उनको कुछ पता है जिसके कारण उन्हें नहीं पता। (हँसते हुए) तुम्हें कुछ पता है, जो तुम्हें ये भ्रम नहीं होने दे रहा कि तुम्हें कुछ पता है। जब अपनी स्थिति को देख पाओगे कि कितना ज़्यादा होता है ये, कि नहीं पता होता, तब ये भी देख पाओगे कि दुनिया कैसे चल रही है—जहाँ किसी को कुछ नहीं पता, पर सब यूँ चल रहे हैं जैसे उन्हें पूरा पता हो। ये देख पाना दुनिया से मुक्ति देगा।

“मूर्खों की दुनिया है ये। इसका भरोसा कैसे कर लूँ? यहाँ किसी को कुछ नहीं पता पर बन सब ऐसे रहे हैं कि सब पता है। पता मुझे भी नहीं,पर मुझे इतना पता है...?”

श्रोतागण : कि मुझे नहीं पता।

आचार्य: कि नहीं पता।

प्र: सर, जिन्हें लगता है कि उन्हें पता है, उनका भ्रम कैसे टूटे?

आचार्य: उनको तो ज़िन्दगी तोड़ रही है, अच्छे से। तुम्हें लगता है कि तुम्हें पता है कि सामने गड्ढा नहीं है, तो अब उसके बाद क्या होगा?

प्र: गिरेंगे।

आचार्य: टूटेगी, क्या? हड्डी। पर ऐसे हैं हम जड़, कि हड्डियाँ टूटती रहीं, पर भ्रम नहीं टूटे। अपने शरीर के और मन के घावों को देखो, वो घाव कहाँ से आ रहे हैं? ये जो दिन-प्रतिदिन तुम्हारी ज़िन्दगी हादसा है, ये क्यों ऐसा है? जीवन क्या है? दुर्घटनाओं की कतार। आज क्या दुर्घटना घटी? ये कहाँ से घट रही हैं दुर्घटनाएँ? ये कदम-कदम पर ठोकर क्यों खाते हो? जो सोचते हो वही उल्टा। चलते बाएँ हो, पहुँच दाएँ जाते हो। सारे अनुमान गलत, सारे चुनाव गलत।

अब यदि अपने से ज़रा भी प्यार होगा, अपने प्रति थोड़े भी संवेदनशील होओगे, तो खुद ही स्वीकार कर लोगे न कि—"भ्रमों में जी रहा हूँ, इसी कारण तो इतने कष्ट मिलते हैं।"

तुम्हारे कष्ट ही प्रमाण हैं तुम्हारे भ्रमित होने का।

जीवन ने कोई ठान नहीं रखी है कि तुम्हें दुःख देगा। अस्तित्व इसलिए नहीं है कि तुम्हें परेशान रखे। तुम यातना भोगने के लिए थोड़े ही पैदा हुए हो, पर फिर भी तुम पाते हो कि जीवन बिलकुल बोझ जैसा है। है कि नहीं? रोज़ दो आँसू रो लेते हो। तो इससे यही सिद्ध होता है कि भ्रमित हो। कुछ तो तुमने मन में ऐसा बैठा रखा है जो अवास्तविक है। नकली में जी रहे हो, इसीलिए कष्ट पा रहे हो, अन्यथा किसी का कोई इरादा नहीं है तुम्हें कष्ट देने का। तुम्हारे दुखों का कारण तुम्हारे अपने भ्रमों के अलावा और कुछ हो सकता है क्या?

प्र२: लेकिन सर, जीवन इतना जटिल क्यों है? जो भी दिखाई दे रहा है वो सब भ्रम है, और जो वास्तविक है, वो दिखाई नहीं देता। ऐसा क्यों?

आचार्य: जीवन जटिल है, या तुमने पी रखी है? अब ये दीवार है, सफ़ेद बिलकुल (सामने दीवार की ओर इशारा करते हुए) और तुम्हें चढ़ी हुई है, और तुम कह रहे हो, "अरे! वो देखो, वो दीवार पर टेढ़े-मेढ़े रास्ते बने हुए हैं। और वो राक्षस हैं, उनके पीछे परियाँ दौड़ रही हैं। और वो दीवार के बीच में नाला खुदा हुआ है। दीवार से एक स्पेसशिप जा रही है ऊपर।" और फिर तुम कह रहे हो कि—"बड़ी जटिल कलाकारी है, बड़ी कॉम्प्लेक्स कहानी है।"

जटिलता वहाँ है दीवार में, या यहाँ है (मस्तिष्क की और इशारा करते हुए)?

कहाँ है? (हाथ तेज़ी से हिलाते हुए) इस हाथ को देखकर कोई पूछे कि कितनी उंगलियाँ हैं, और कोई उत्तर दे, "अट्ठारह", तो तुम क्या बोलोगे? "बड़ा कॉम्प्लेक्स हाथ है। कितना जटिल हाथ है। अट्ठारह उंगलियाँ!"

हाथ जटिल है, या तुम्हारा मन जटिल है?

....

(नई दिल्ली, 2016)

गिरते हुए समाज में मेरे लिए सही कर्म क्या है ?

प्रश्नकर्ता: गिरते हुए समाज में मेरा सही कर्म क्या है?

आचार्य प्रशांत: समाज या दुनिया क्या है? हम हैं, आप हैं; जैसे हम हैं, आप हैं, वैसा ही संसार है। अगर आप समाज को और संसार को गिरता हुआ पाते हैं, तो उसका कारण यही है कि इंसान गिर रहा है, हम और आप गिर रहे हैं। ऐसा तो नहीं हो सकता कि इंसान उठा हुआ रहे, और समाज पतित रहे। उर्ध्वगामी है अगर मनुष्य, तो अधोगामी तो नहीं हो सकता न मनुष्य का समाज?

और जब समाज गिर रहा होता है, तो उसका अपना एक वेग होता है। गिरता हुआ समाज औरों को और गिराता है, अपने साथ गिराता है। गिरते हुए समाज के मध्य में अगर आप बैठे हैं तो आपका धर्म है कि अपने आस पास गिरती हुई चीज़ों, इंसानो और व्यवस्थाओं के साथ आप स्वयं भी न गिर जाएँ। यही धर्म है आपका।

कृष्णमूर्ति पूछ रहे हैं, “क्या करें इस गिरते हुए संसार में?” स्वयं न गिर जाएँ। जैसे गिरते हुए का वेग होता है, एक कर्षण होता है कि वो औरों को भी अपने साथ नीचे खींच लेना चाहता है, गिरा लेना चाहता है। ठीक उसी तरह से न गिरने का भी अपना एक कर्षण होता है, उसका भी अपना एक महत्व होता है।

जैसे समझ लीजिए कि गिरना संक्रामक होता है, न गिरना भी संक्रामक होता है। दस लोग मूर्खताएँ कर रहे हैं, तो ग्यारहवें पर भी प्रभाव पड़ता है मूर्खता करने का। पर अगर ग्यारहवाँ अडिग रहे और अपने आप को प्रभावित न होने दे, तो इस ग्यारहवें का बाकी दस पर भी प्रभाव पड़ता है।

यही धर्म है आपका, कि जब दस लोग मूर्खता कर रहे हों, तो आप मूर्खता न करें। आप मूर्खता न करें तो उन दस के सुधरने की संभावना बढ़ जाती है।

एक फिल्म है जो मैं कई बार देख चुका हूँ, मेरे ख्याल से “ट्वेल्व एंग्री मेन” नाम है उसका। उसमें एक मुक़दमा चल रहा है एक लड़के के ख़िलाफ़। जो लोग जज बन कर बैठे हैं वो पूर्वाग्रह ग्रस्त हैं। एक अकेला है जो कहता है “मैं जानता नहीं, मैं जानना चाहता हूँ, मैं पहले से ही धारणा नहीं बनाऊँगा, ज़रा मुझे बताओ।”

तो जैसे-जैसे कहानी आगे बढ़ती है, और वो एक व्यक्ति तय करता है कि, "मुझे पूर्वाग्रहों के आकर्षण में गिरना नहीं है। मुझे बने रहना है, मुझे बचे रहना है। मुझे अपनी निष्पक्षता बरक़रार रखनी है।" वैसे-वैसे उस एक के सामीप्य के कारण, उस एक की उपस्थिति के कारण, बाक़ी सब लोग भी धीरे-धीरे सुधरने लग जाते हैं। यही समाज में धर्म है आपका। आप सुधरे रहिए, आपको देखे-देखे और लोग भी सुधर जाएँगे।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2017)

कैसे लोगों की दोस्ती मेरे लिए अच्छी ?

आचार्य प्रशांत: हम सब ये चाहते हैं कि निर्दोष रहें। तो ऐसे में वो स्थिति हम सबको सुहाती है जिसमें हमें ये एहसास हो कि हम में कोई खोट नहीं, हम में कोई दोष नहीं, क्योंकि निर्दोषिता स्वभाव है न। ऐसा माहौल जो तुम्हें ये एहसास करा दे, थोड़ी ही देर को सही, भ्रम रूप में ही सही, कि तुम पूरे हो, तुम बढ़िया हो, तुम पूर्ण हो, परफेक्ट हो, तुम में कोई दोष नहीं, वो तुम्हें हमेशा अच्छा लगेगा।

लेकिन उसमें एक धोखा हो सकता है, धोखा क्या है? पूर्ण हो और अपनी पूर्णता में खेल रहे हो, नहा रहे हो, मस्त हो, वो एक बात है; और अपूर्ण हो, और पूर्णता का भ्रम पाले हुए हो, दूसरी बात है। अगर अपूर्ण हो, तब तो अच्छा यही है कि तुम्हारे सामने ये उद्घाटित कर दिया जाए कि अपूर्णता है। लेकिन जो कोई भी तुम्हें ये बताए कि तुम में अभी कोई अपूर्णता है, उसका दायित्व ये भी है कि तुम्हें ये भी बताए कि अपूर्णता झूठी है, तुम्हारा स्वभाव तो परफेक्शन (पूर्णता) ही है, सवभाव तो पूर्णता ही है। दोनों काम करने पड़ेंगे।

वो भी गलत है जो तुमसे कह दे कि "नहीं, नहीं, तुम में कोई दोष नहीं है", और वो भी गलत है जो तुमसे कह दे कि, "तुम में सिर्फ दोष ही दोष है।"

कबीर ने इसी बात को बड़े सीधे तरीके से कह दिया है,

गुरु कुम्हार, शिष्य कुम्भ है, गढ़ी-गढ़ी काढ़े खोंट। अंदर हाथ सहार दे और बाहर मारे चोट।।

दोनों काम एक साथ करने हैं, कौन से दो काम? "अंदर हाथ सहार दे, बाहर मारे चोट।" जो कोई तुम्हें चोट ही ना मारे, वो भी तुम्हारे लिए भला नहीं, क्योंकि अगर चोट ही नहीं मार रहा तो तुम्हें लगेगा कि, "हम जैसे हैं बढ़िया हैं", फिर किसी तरीके का कोई बदलाव, कोई सुधार कभी होगा नहीं। और वो भी गड़बड़ है जो तुम्हें चोट तो मारे और अंदर से सहारा ना दे। तुम्हें तो कोई ऐसा चाहिए, जिसे चोट भी मारना आता हो और चोट मारने के बाद सहारा देने के लिए भी मौजूद रहे।

उनको अपना हितैषी मत मान लेना जो तुम्हें चोट ही नहीं मारते। जो तुम्हें चोट ही नहीं मारते वो तो तुमको मजबूर किए दे रहे हैं ग़मों में जीने के लिए। वो तो लगा लो कि तुम्हारी गलतफहमियों में मददगार हो रहे हैं। और जो तुम्हें सिर्फ चोट मार रहे हैं और सहारा देने नहीं आते, वो तो क्रूर हैं, असंवेदनशील है। उनका शायद फिर इरादा तुम्हारे सुधार का नहीं है, वो तो तुम्हें चोट दे देकर के मजे लेना चाहते हैं। करुणा इसमें है कि चोट मारी तो सहारा भी दिया। जो चोट ना मार रहा हो उसे कहना, "चोट मारिए" और जो चोट मार रहा हो उससे कहना कि "चोट मार रहे हो तो सहारा भी दीजिए।"

जब कोई ऐसा मिल जाए जो कभी तुमसे कोई कड़वी बात कहता ही ना हो तो उससे सतर्क हो जाना। उससे कहना कि, "साहब सच-सच बताया करिए हम जैसे हैं, आईना दिखाया करिए।" और जब कोई ऐसा मिल जाए जो हर समय कड़वा ही बोलता रहे तो उससे कहना, "कड़वा बोलते हैं आप भला करते हैं, ज़ख्म देते हैं आप भला करते हैं लेकिन फिर मरहम भी लगाइए। ज़ख्म देते हैं तो अब आपका ही फ़र्ज़ है मरहम लगाना भी, जिस हक़ से चोट दी थी अब उसी हक़ से मरहम भी लगाओ।"

और यही बात अपने लिए भी याद रखना। जब भी किसी को डाँटना तो बाद में उसे दुलारना भी, जब भी किसी को तोड़ना तो बाद में उसे सँवारना भी। तोड़ कर छोड़ दिया तो ये तो बड़ी क्रूरता कर दी और तोड़ा ही नहीं तो भी बड़ी क्रूरता कर दी। तोड़ना भी ज़रूरी है। प्रेम इसमें नहीं होता कि तोड़ना ही नहीं है। अगर प्रेम करते हो किसी को तो उसे तोड़ना ज़रूर लेकिन करुणा के साथ। तोड़ कर फिर जोड़ना भी।

प्र: लेकिन सर, इसका भी कोई निर्धारित समय होता है क्या? जैसे अगर कोई हिंसक मूड में है जब उधर से आ रहा है। आप साफ़ मन हो तो आपको साफ़-साफ़ पता चलेगा कि ये दिक्कत चल रहा है अभी, और मन करता है कि उसी समय बोलें।

आचार्य: मन जो कर रहा है कि उसी समय बोले वो क्या इसलिए कर रहा है क्योंकि सामने वाले से बहुत प्यार है, सामने वाले की बढ़ोतरी चाहते हो इसलिए उसको तुरंत आईना दिखा देना चाहते हो? जब कोई आ रहा है तुम्हारे सामने और तुम्हारा मन कर रहा है उसे कटु-वचन बोलने का तो क्या इसलिए कर रहा है कि उससे प्रेम है? अगर इसलिए कर रहा है तो निसंदेह जितना भी कड़वा बोलना है, बोल दो।

लेकिन आमतौर पर जब हम किसी को कड़वा बोलना चाह रहे होते हैं, जब मन बिलकुल लालायित हो रहा होता है किसी पर वार करने को, तो इसीलिए नहीं लालायित हो रहा होता है कि उसे सामने वाले की बेहतरी चाहिए, मन इसीलिए लालायित हो रहा होता है क्योंकि उसे अपनी भड़ास निकालनी है, उसे अपनी हिंसा का प्रदर्शन करना है। वो इतना भरा बैठा है कि उसे अपना गुबार निकलना है, फट पड़ना है।

प्र: बहुत कम होता है, लेकिन पहला वाला भी होता है।

आचार्य: जब पहले वाला ही शुभ है फिर पीछे मत हटना। देखो, शरीर पर चाकू लुटेरा भी चलाता है और एक सर्जन भी, अगर सर्जन ये कह दे कि, “चाकू चलाना तो हिंसा है”, कभी उपचार नहीं हो पाएगा। तो जब ज़रूरत पड़े तो जिससे प्यार करते हो तो चाकू ज़रूर चलाना पर सर्जन की तरह चलाना।

इसी बात में एक बात और समझ लो अच्छे से। हम कहते ये हैं कि जो सीखना चाहे उसको कीमत अदा करनी चाहिए, यही कहते हैं न? लेकिन जिसे सीखने की सबसे ज़्यादा ज़रूरत है वो तो अभी भ्रम में ही जी रहा होगा न। रौशनी की सबसे ज़्यादा ज़रूरत किसे है? जो अंधेरे में जी रहा हो। सीखने की सबसे ज़्यादा ज़रूरत किसको है? जो भ्रम में जी रहा है। जो भ्रम में जी रहा होगा क्या वो कभी ये कहेगा कि, "कीमत देने को तैयार हूँ"? वो तो यही कहेगा न कि, “मुझे कोई कीमत नहीं देनी, मैं तो मस्त हूँ।” कोई भ्रम में जी रहा है तो उसे यही भ्रम है कि, "मैं मस्त हूँ, मैं

ठीक हूँ, मैं जैसा हूँ, बढ़िया हूँ।"

तो ये सुनने में बात ठीक लगती है कि जिसे सीखना हो वो कीमत अदा करे। वास्तव में जिसे सीखना चाहिए वो कीमत अदा करने को तैयार नहीं होता क्योंकि वो कहता है कि, "मुझे कोई बीमारी ही नहीं तो मैं कीमत क्या अदा करूँ?" वो कहता है, "मुझे कुछ चाहिए ही नहीं तो में कीमत क्या अदा करूँ?"

तुम उसके पास जाओ, तुम उससे कहो कि, "मैं तुम्हे बोध दूँगा", तुम उससे कहो कि, "मैं तुम्हे मुक्ति दूँगा ,तुम कीमत अदा करो", तो वो क्या जवाब देगा? वो कहेगा कि "बोध? दो कौड़ी की चीज़ मुझे चाहिए ही नहीं, मैं कीमत अदा नहीं करता" या फिर "बोध, वो तो हमारे पास कब से है!"

जिसको भी तुम सिखाना चाहोगे, ऐसा कम ही होगा कि वो कीमत अदा करने को तैयार हो। कीमत जानते हो हमेशा किसको अदा करनी पड़ती है? जो सिखाना चाहता है। शिष्य को नहीं कीमत अदा करनी पड़ती, गुरु को करनी पड़ती है।

तो अगर वास्तव में प्यार करते हो किसी से तो तुम कीमत अदा करने को तैयार रहना। उसे सिखाने की कीमत तुम अदा करोगे और उसमे तुम अपने पाँव पीछे मत खींचना, ये मत कहना, "भाई, सिखा तुझे रहा हूँ बेहतरी तेरी हो रही है, कीमत मैं क्यों अदा करूँ?" कीमत तुम ही अदा करो क्योंकि कीमत उन्हें ही अदा करनी होती है जो ज़िम्मेदार होते हैं, जो जानते हैं। जो बेचारा अभी समझ ही नहीं पा रहा वो ये भी समझ नहीं पाएगा कि उसे कीमत अदा करनी चाहिए, वो कुछ नहीं समझेगा। तो इस चक्कर में मत पड़ना कि, "अन्याय हो रहा है कि मैं ही सिखाऊँ और मैं ही रोऊँ और कीमत अदा करूँ!" ऐसा ही होता है। जो जनता है उसी पर ज़िम्मेदारी आती है, जो निभा सकता है उसी पर ज़िम्मेदारी आती है।

प्र: सर ये जो गैप (अन्तर) आ जाता है कि आप कुछ बता रहे हैं, कोई सुन रहा है तो ये जो समझ का गैप आ जाता है वो मैं चाहता नहीं हूँ कि मैं ऐसा महसूस करूँ कि गैप है या ऐसा कुछ है लेकिन ये आता है।

आचार्य: ईमानदार रहो। तुम जितना कम ऊर्जा दे सको अपने विचारों को और भ्रमों को उतनी कम उर्जा दो, बाकी

सब धीरे-धीरे अपने आप होगा। जिस गैप की तुम बात कर रहे हो वो थोड़ा बहुत हमेशा रहेगा, बस तुम जान-बूझकर उसको बढ़ाना मत।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2017)

न इच्छाएँ तुम्हारी, न इच्छाओं से मिलने वाली संतुष्टि तुम्हारी

आचार्य प्रशांत: सबकुछ तो सिर्फ़ जानना है न? खुद जानना। बस सुन नहीं लेना। किसी ने बोल दिया कि इंजीनियरिंग कर लो, तो कर ली। अब किसी ने बोल दिया कि चलो सॉफ्टवेयर वाली जॉब ले लो, तो ले ली। फिर किसी ने बोल दिया कि अब ये है, ये इंडस्ट्री ज़्यादा अच्छी चल रही है, तो उसमें चल दिए; खुद जानना।

प्रश्नकर्ता: सर, खुद जानने का क्या मतलब है? अब किसी ने कुछ बताया तो हमने सुना...

आचार्य: तो इस बात की मुझे पूरी-पूरी चेतना रहे कि मैं सिर्फ उसकी बात सुन रहा हूँ, सूचना के तौर पर। सूचना निर्णय न बन जाए। मैं गूगल सर्च करता हूँ, गूगल मुझे क्या देगा? सूचना। सूचना ले लूँ, ठीक। निर्णय ले लिया! सूचना तो बाहर से ही आनी है। सूचना तो मैं लूँगा-ही-लूँगा बाहर से, उसमें कोई दिक्कत नहीं है। निर्णय कौन लेगा?

प्र१: सुनो सबकी, करो मन की।

आचार्य: नहीं, मन की नहीं। मन तो बाहर की ही करेगा। बुद्धि की। बुद्धि, मन के बियॉन्ड (पार) होती है। बुद्धि मन से आगे होती है।

प्र१: नहीं सर, बुद्धि की नहीं, मन की सुननी चाहिए।

आचार्य: मन तो तुमसे क्या करवाएगा?

प्र१: नहीं सर, करना चाहिए मन की, बुद्धि तो विवशता हो जाती है कभी-कभी।

आचार्य: ये उदाहरण देना तुम्हें मुझे बहुत अच्छा लगता है – तुम एक पिज़्ज़ा की दुकान के सामने से निकल रहे हो। तुमने वहाँ देखा लोग खा रहे हैं। तुमने उसका बोर्ड देखा, तुम्हारा मन कर गया अंदर जाओ। अब तुम बोलोगे, "ये मेरा मन है अंदर जाने का"? ये तुम्हारा मन है अंदर जाने का?

प्र१: नहीं सर, ये तो स्थिति है।

आचार्य: स्थिति नहीं। मन तुम्हारा जो भी करेगा न, वो एक बाहरी चीज़ ही होगी।

प्र१: सर, ये तो हो गए छोटे-मोटे उदाहरण...

आचार्य: तुम मुझे कोई उदाहरण दे दो जहाँ पर तुम्हारा मन कुछ ऐसा कर रहा हो जो उसकी वास्तविक पैदाइश है।

प्र१: पर सर, जो संतुष्टि हमें मिलेगी, वो मन से मिलेगी।

आचार्य: मन से संतुष्टि नहीं मिलती, मन से सिर्फ इच्छाएँ पूरी होने का भ्रम होता है। अब तुम जैसे अंदर जाओगे, पहली बात तो तुमने ये गलती कर दी कि तुमने ये मान लिया कि, "ये मेरे मन की इच्छा है।" ये तुम्हारे मन की इच्छा नहीं है, ये पिज़्ज़ा-हट वाले की इच्छा है। मन की जो भी इच्छा होती है न, वो हमेशा किसी और की होती है, तुम्हारी नहीं होती।

बुद्धि तुम्हारी अपनी है, मन हमेशा किसी और का होता है। मन बनता ही बाहरी प्रभाव से है।

प्र१: सर, ये आप फिफ्टी-फिफ्टी परसेंट (पचास-पचास प्रतिशत) कह सकते हो, पर...

आचार्य: नहीं, ये फिफ्टी-फिफ्टी कोई व्यापार नहीं हो रहा है यहाँ पर। यहाँ पर, (हँसते हुए) 'आधी तेरी-आधी मेरी', ये नहीं चलता है। सत्य, सत्य है।

प्र१: पर सर संतुष्टि तो हमें ही मिलती है।

आचार्य: वो तो होगा ही। तुम अंदर जाओगे, पिज़्ज़ा-हट में पिज़्ज़ा खाओगे। तुम कहोगे, "संतुष्टि मिल गई।" मैं कह रहा हूँ, जब इच्छा ही तुम्हारी नहीं थी, तो संतुष्टि भी झूठी है। तुम्हें भ्रम हुआ था कि तुम्हारी इच्छा है कि तुम्हें पिज़्ज़ा मिले। वो इच्छा तुम्हारी थी नहीं, वो इच्छा तुम में पैदा की गई। तुमको बोर्ड दिखाया गया, तुम्हारी नाक में गंध पड़ी पिज़्ज़ा की। ये इच्छा तुम्हारे भीतर पैदा करी किसी और ने। तुम्हें भ्रम हुआ कि, "वो मेरी इच्छा है।" और कहते हो, "मेरा मन कर रहा है।" तुम्हारा मन कर ही नहीं रहा था, मन किसी और का था। तुम्हारे भीतर वो इच्छा आरोपित की गई, ट्रांसप्लांट (प्रत्यारोपित) की गई।

अब उसके बाद तुम जाते हो, पिज़्ज़ा खा लेते हो। फिर तुम कहते हो, “मुझे संतुष्टि मिल गई।” जैसे वो इच्छा झूठी थी, संतुष्टि भी झूठी है। उसका प्रमाण क्या है? उसका प्रमाण ये है कि दो घण्टे बाद तुम्हारा मन किसी और चीज़ के लिए भागेगा। इस संतुष्टि की जो उम्र है वो दो मिनट भी नहीं होती। एक इच्छा पूरी करो, दूसरी खड़ी हो जाती है। और तुम रह वैसे-के-वैसे ही जाते हो।

प्र१: सर, मतलब कि आज तक हमने जितने भी काम किए हैं, अब तक जितनी भी चीज़ें चल रही हैं, सब गड़बड़?

आचार्य: इतना अगर बस देख लो, बस कहो भर नहीं क्योंकि अभी तो जो तुमने कह दिया, ये सिर्फ शब्द हैं। ये बात अगर तुम समझ लो, गहराई से, पूरी-पूरी तरीके से समझ लो कि तुम जो भी कुछ कर रहे हो, उसमें तुम्हारा अपना कुछ नहीं है। वो सब कुछ किसी और के द्वारा हो रहा है, और तुम ग़ुलाम की तरह करे जा रहे हो, तो तुम्हारे भीतर से ऐसी आग उठेगी कि तुम्हारी सारी गड़बड़ जल जाएगी। फिर तुम कुछ और बन जाओगे।

प्र१: जैसे आपने अभी ये बताया, ये हर एक पर लागू नहीं होता।

आचार्य: जैसे? मुझे बताओ।

प्र१: सर, जैसे कि जितने भी निर्णय मैंने अपने मन से किए हैं न, उस वक्त अगर मैं अपनी बुद्धि से करता तो मेरा बहुत नुकसान होता।

आचार्य: मन और बुद्धि को कैसे अंतर कर रहे हो? अंतर क्या है दोनों में?

प्र१: सर, मन और बुद्धि?

आचार्य: जब जानते ही नहीं, तो क्यों इस्तेमाल कर रहे हो?

प्र१: नहीं सर, जानता हूँ।

आचार्य: क्या?

बुद्धि का अर्थ होता है *इंटेलिजेंस*। और मन का अर्थ होता है तुम्हारे माइंड की वो सारी वृत्तियाँ, जो अपने आप चलती हैं, ऑटोमेटिक मोड में, ऑटोमेटिक (स्वचालित) चलती हैं।

इंटेलिजेंस तुम्हारी है, और मन ऑटोमेटिक है। उसपर तुम्हारा कोई नियंत्रण नहीं है। अभी यहाँ पर कुछ मनोरंजक चीज़ होनी शुरू हो जाए, तो तुम्हारा मन क्या कहेगा? "उधर देखो, ये तो बेकार की बात है। पता नहीं क्या भाषणबाज़ी चल रही है। उधर देखो।" हाँ अगर तुम में बुद्धि है, इंटेलिजेंस है, विवेक है, तो फिर तुम इधर रह जाओगे।

प्र१: सर, आप हर किसी को ये क्यों मान कर चलते हो कि पता नहीं है। बहुतों को पता रहता है।

आचार्य: पता कैसे रहता है? पता बुद्धि से होगा न? पता करने वाली जो यूनिट है, वो हमेशा बुद्धि है।

प्र१: हाँ, सर।

आचार्य: फिर? मन तो तब भी नहीं आया। अगर कोई बोले, "मुझे पता है!" तो वो जो 'जानने' की क्षमता है, वो बुद्धि की ही है, इंटेलिजेंस की है, वो मन की नहीं है। मन की कोई अक़्ल नहीं होती। मन कुछ नहीं जानता, मन सिर्फ चल देता है।

प्र१: सेल्फ कंट्रोल (आत्म नियंत्रण)।

आचार्य: मन पर किसी का कोई वश नहीं होता, मन में सेल्फ है ही नहीं। मन हमेशा बाहर वाले का है। तुम एक हरकत बता दो मन की जो तुम्हारी अपनी है? मन में कोई सेल्फ कंट्रोल नहीं होता। सेल्फ कंट्रोल करने वाली ही बुद्धि है। जो कंट्रोल करे, वो बुद्धि ही है।

प्र१: सर, एक सवाल है। मैं परिवार में सबसे छोटा हूँ, सब प्यार भी करते हैं, सबसे छोटा हूँ। सब अच्छा है, पर परेशानी यह है कि मेरी सोच पूरे परिवार से अलग है। इस वजह से परिवार में द्वंद्व भी है। तो मुझे क्या करना चाहिए? मैं उनके जैसा हो जाऊँ?

आचार्य: ऐसा कर पाओगे कोशिश करके भी?

प्र२: सर, मैं एक सवाल इसी से उससे पूछना चाहता हूँ। अभी इसने कहा कि ये फैमिली में छोटा है और सब प्यार करते हैं। और इसकी सोच अलग है इसीलिए परिवार में द्वंद्व भी है। तो ये कैसे कह सकता है कि इसे सब प्यार करते हैं?

(छात्र हँसते हैं)

आचार्य: नहीं, उसके शब्दों पर मत जाओ। अभी इस बात को समझो कि जो वो मुद्दा उठा रहा है, वो मुद्दा बेकार नहीं है। वो ये कहने की कोशिश कर रहा है, कि हम इस बात को समझें, कि "ये प्यार क्या चीज़ होती है? और इसका सोच से क्या संबंध है?" उसने जिस तरीके से कहा इस पर मत जाओ। पर जो बात कह रहा है, उसमें सार्थकता है।

आप एक ओर तो ये कहते हो कि, "मुझे मेरे घरवालों से बहुत प्यार है।" हम सब कहते हैं। दूसरी ओर हम ये भी कहते हैं कि, "वो मुझे नहीं समझते, मैं उन्हें नहीं समझता।" बिना समझे ये प्यार हो कैसे गया? मोह हो सकता है,

बंधन हो सकता है, जकड़न हो सकती है, पर प्रेम तो बिना समझे नहीं हो सकता। तुम जिस चीज़ को समझते नहीं, उसको प्रेम कर कैसे लोगे? तुम प्रेम कैसे कर सकते हो जब तुम समझ नहीं रहे हो?

हाँ, तुम कब्ज़ा कर सकते हो, तुम मुग्ध हो सकते हो, तुम पर जूनून सवार हो सकता है। लेकिन बिना समझे तुम प्रेम नहीं कर सकते। क्या प्रेम बिना समझ के हो सकता है?

प्र१: ये तो पता नहीं पर...

आचार्य: तुम बताओ न? पता नहीं, नहीं। और अगर तुम कह रहे हो कि दोनों एक साथ हैं - प्रेम और समझदारी की कमी, तो इसका मतलब है दोनों में से कोई एक है जो है नहीं। या तो प्रेम नहीं है या समझदारी नहीं है।

तुम कहते हो, "मैं अपनी सोच बदल लूँ?" सोचना मतलब समझ का प्रयोग। सोचना एक क्रिया है, वर्तमान में होने वाली, है न? 'सोचना'। बदली जा सकती है क्या? कोशिश करके भी क्या बदली जा सकती है? अगर मुझे दिखाई पड़ ही रहा है कि ये सफ़ेद है, और ये काला है, तो मैं कोशिश करके क्या उल्टा सोच सकता हूँ? जो मुझे दिख ही रहा है उसको अनदेखा करने का कोई तरीका है? है क्या?

वास्तविकता जान कर, अब उसको अनजाना करा जा सकता है क्या? हाँ, तुम अपने आप को भ्रम में रख सकते हो। वो अलग बात है।

तो सोचना, सोचने से मेरा मतलब समझ। मैं समझ रहा हूँ कि तुम 'समझ' कहना चाहते हो। समझ को रिवर्स कर देने का दुनिया में कोई तरीका आज तक खोजा नहीं गया; खोजा जा भी नहीं सकता। जो तुमने एक बार देख लिया, तो देख लिया। अब कोशिश कर भी लो तो उसको अनदेखा नहीं कर सकते। जो जान लिया, अब वो जान लिया। अब उससे नीचे नहीं जा सकते तुम।

तो तुम वही रहोगे जो तुम हो। हाँ, तुम अपने आप को बहुत कष्ट ज़रूर दे सकते हो कि, "मैं कोशिश करके दूसरे

जैसा हो जाऊँ। मैं उनकी हाँ में हाँ मिला दूँ। मैं उनकी बात काटूँ न।” ऐसा करा नहीं जा सकता। समझ तो समझ है। समझ गए, तो समझ गए।

अब समझ कर ये भी समझो कि इस स्थिति में तुमने करना क्या है। मैं तुम्हारी मदद नहीं कर पाऊँगा। इतना तो तुम समझते ही हो न कि तुम समझ रहे हो? तो अब इस मुद्दे पर भी अपनी ही समझ लगाओ कि उचित कर्म क्या है, क्योंकि घरवाले किसके हैं? तुम्हारे। प्रेम की बात किसकी है? तुम्हारी। समझ की बात किसकी है? तुम्हारी। तो उसे समझेगा कौन? तुम।

तो उसमें बस कल्पनाएँ मत करना, नेति-नेति वाली गलती मत करना कि तुमने कल्पना कर ली, कि ये तो घरवाले हैं तो सही ही कह रहे होंगे; या ये घरवाले हैं तो इनका दिल नहीं तोड़ना चाहिए। तो कोई भी ऐसी बात, कैसी भी बात जो कल्पना से आ रही हो। कल्पना मत करना।

....

(उत्तर प्रदेश, 2012)

व्यर्थ है मन को बाँधना

प्रश्नकर्ता: सर, एकाग्रता की कमी क्या है?

आचार्य प्रशांत: बेटा, जहाँ भी एकाग्रता है न, वहाँ विकर्षण पहले ही मौजूद है। तुम किस को विकर्षण बोलती हो?

जब एक वस्तु की ओर मन को केन्द्रित करना चाहती हो और मन दूसरी और दिशाओं में भाग रहा है, तो तुम क्या बोल देते हो कि ये विकर्षण है। हो कुछ नहीं रहा है, हो इतना ही रहा है कि तुम उसको एक जगह पर लगाना चाहते हो, मन का एक हिस्सा है जो चाहता है कि किसी एक जगह पर केन्द्रित हो जाए और दूसरे और कई हिस्से हैं, जिनकी अपनी दूसरी माँगें हैं, वो इधर-उधर जा रहे हैं।

एक तरफ जाने को तुमने नाम दे दिया एकाग्रता का। किताब की ओर जाओ तो तुमने नाम दे दिया एकाग्रता। और वही मन अगर खिड़की के बाहर जाना चाहता है, सड़क पर जाना चाहता है, बाज़ार में जाना चाहता है, तो तुमने उसको नाम दे दिया है विकर्षण।

एक को तुमने बहुत अच्छा घोषित कर दिया है कि एकाग्रता बड़ी अच्छी चीज़ होती है। तुम कहते हो कि, "फलाना बड़ा अच्छा विद्यार्थी है क्योंकि उसकी एकाग्रता की क्षमता बहुत अच्छी है"; दूसरे को तुमने गड़बड़ चीज़ घोषित कर दिया है। तुम कहते हो, "मन अगर इधर को गया तो ये विकर्षण है", है न? बात इसमें एकाग्रता और विकर्षण की है, या बात तुम्हारे लेबल की है – तुमनें किसी को क्या नाम दिया है? पढ़ते समय अगर तुम्हें फिल्म का ख्याल आता है तो तुम उसे क्या बोलते हो?

प्र: विकर्षण।

आचार्य: और अगर फिल्म देखते समय पढ़ने का ख्याल आ जाए तो वो क्या है? तो वो क्या है? वो भी तो विकर्षण ही है, तो एकाग्रता और विकर्षण इन दो शब्दों को एक जानो। जो अभी एकाग्रता है थोड़ी देर में विकर्षण बन सकती है।

वो पढ़ाई जो अभी एकाग्रता है, जब मूवी हॉल में पहुँचोगी तो वही पढ़ाई विकर्षण कहलाएगी। एक को अच्छा और दूसरे को बुरा मानना बंद करो। मूल मुद्दे पर आते हैं, जो असली बात है उसकी चर्चा करते हैं। असली बात ये है कि मन बँटा हुआ क्यों है? असली बात ये है की अलग-अलग दिशाओं में मन भाग क्यों रहा है?

तुमने एक दिशा को अच्छा बोल दिया है, वो दिशा पढ़ाई की होती है आमतौर पर, और बाकी सारी दिशाओं को तुमने अवैध घोषित कर दिया है, वो यही सब होती हैं – दोस्त यारों से बात कर लिया, इधर-उधर मन कहीं जा रहा

है, तुमने उसको कह दिया कि ये सब विकर्षण है। मूल सवाल ये है कि मन दस दिशाओं में भाग क्यों रहा है? समझो, मन दस दिशाओं में क्यों भाग रहा है। छोड़ो एकाग्रता, छोड़ो विकर्षण, मूल मुद्दे पर आओ।

मन को लग रहा है कि कुछ खो गया है, उसको वो हर तरफ खोज रहा है। मन को कुछ चाहिए, और उसको पक्का नहीं है वो कहाँ मिलेगा इसीलिए वो जगह-जगह ढूँढता फिर रहा है। जैसे एक अँधा आदमी हो और उसकी कोई कीमती चीज़ खो गई हो तो कभी इधर तलाशता हो और कभी उधर तलाशता हो, और जहाँ भी तलाशता हो उसको मिलती ना हो, वैसा ही हमारा हाल है। हमारा हीरा खो गया है, हमारी कोई कीमती चीज़ है जो मिल नहीं रही है। और हम उसको बड़ी अजीब-अजीब जगहों पर तलाश रहे हैं।

हम उसको तलाशते हैं टी.वी. में, हम उसको तलाशते हैं हर तरह के मनोरंजन में, हम कभी-कभी उसको धर्म में तलाशने लग जाते हैं। हम कभी उसको इज़्ज़त में तलाशते हैं कि, "इज़्ज़त पा लूँ तो शायद मन शांत हो जाए।" कहाँ-कहाँ को भागता है मन, इधर को ही तो भागता है? इज़्ज़त के पीछे, पैसे के पीछे, डिग्री मिल जाए कोई, दूसरे कोई किसी तरीके का ठप्पा दे दें, सेक्स के पीछे।

हज़ार तरीके के उसने अड्डे खोज रखे हैं, जहाँ उसको शक़ है कि, "मुझे वो मिल जाएगा जो खो गया है।" पर जो खो गया है वो मिलने का नाम नहीं ले रहा। जो खो गया है वो मिलने का नाम ही नहीं ले रहा। ये मत समझना कि ये कहानी कभी भी ख़त्म होगी, ये कहानी लगातार चलती रहेगी।

तुम जिसको एकाग्रता बोलते हो वो बहुत छोटी चीज़ है और बहुत थोड़ी देर के लिए आएगी, मन फिर जाएगा इधर-उधर। मन फिर जाएगा क्योंकि मन को जो चाहिए वो उसको मिल ही नहीं रहा है। जीवन भर भटकता रहेगा। अब ध्यान से देखते हैं कि मन को क्या चाहिए जो उसको नहीं मिल रहा।

मन जिधर को भी जाता है इच्छा ही करता है न? मन का किधर को भी जाना एक प्रकार की इच्छा ही है। इस बात को ग़ौर से समझो, मन जहाँ को भी जाता है, कुछ इच्छा होगी इसीलिए जाता है। और मन क्या चाहता है कि इच्छा कैसी हो जाए, पूरी हो जाए या अधूरी रहे? पूरी हो जाए। तुम्हें कुछ चाहिए, तुम्हें उसकी इच्छा है। इच्छा कहती है, "मिल जाए", अगर मिल जाए तो इच्छा का क्या होगा? इच्छा खत्म हो जाएगी। तो तुम अंततः क्या इच्छा कर रहे हो? कि,

"मेरी इच्छा खत्म हो जाए।"

यही तुम्हारी गहरी-से-गहरी इच्छा है कि सारी इच्छाएँ खत्म हो जाएँ क्योंकि जब भी तुम कुछ पाते हो तो यही तो कहते हो न कि, “यह मिल जाए और इच्छा चली जाए।” या यह कहते हो कि, “मिल जाए फिर भी इच्छा बची रहे”? ये तो नहीं कहते?

गहरी-से-गहरी इच्छा यही है कि इच्छा ही खत्म हो जाए। यही मन चाहता है इसीलिए वो इधर-उधर दस दिशाओं में भागता है। मन इच्छा-शून्य होना चाहता है, मन शांत होना चाहता है। और तुम क्या कोशिश कर रहे हो? तुम कह रहे हो, “नहीं, मन लगे यहाँ पर।” और यहाँ को लगाना क्या है? एक और इच्छा। मन क्या चाहता है, इच्छा शून्य होना, वाकई। जो उसकी गहरी आकांक्षा है वो है कि आकांक्षा बचे ही ना।

इसी तरीके से कोशिश कौन करता है? एकाग्रता अपने आप में एक कोशिश है, वो कौन करता है? मन। जितनी कोशिश करोगे, मन उतना ताक़तवर होगा। कोशिश अपनेआप में एक इच्छा है। तुम जितनी कोशिश कर रहे हो तुम उतना ज़्यादा इच्छा को ताक़त दे रहे हो। पर तुम कोशिश कर-कर के कोशिश कर रहे हो कोशिश के पार जाने की। तुम इच्छा कर-कर के इच्छा को मारना चाहते हो, वो कैसे हो पाएगा?

जब हम कह रहे हैं कि मन इच्छा-शून्य होना चाहता है, तब हम यह कह रहे हैं कि मन बिलकुल शांत हो जाना चाहता है। पर जो तुम्हारी यह कोशिश है एकाग्रता की, ये मन को शांत होने नहीं देती। एकाग्रता खुद मन के ऊपर एक दबाव है, वो एक तरह की उत्तेजना है। मन शांत कैसे होगा? तुमने तरीका ही ग़लत चुन लिया है। ये सारे तरीके तो तुमको जहाँ तुम्हें जाना है, उससे बिलकुल विपरीत ले जाएँगे। एकाग्रता की कोशिश, ये, वो।

ध्यान से देखो कि मन को अगर शांति चाहिए, तो उसे शांत हो जाने दो। मन अगर इधर-उधर जाता है तो बिलकुल कोशिश मत करो उससे लड़ने की। क्योंकि वो मन तुम्हारा ही है, और जो उससे लड़ने की कोशिश कर रहा है वो भी वही मन है।

मन को दबा कर रखने की कोशिश वैसे ही है जैसे ये एक हाथ दूसरे हाथ को दबाने की कोशिश करे (दोनों हाथों को

साथ लाकर कहते हैं)। कौन सा हाथ जीतेगा? दोनों में से कोई हाथ नहीं जीतेगा मगर मेरी ज़िन्दगी नर्क हो जाएगी। मैं लगातार इसी कोशिश मैं रहूँगा कि एक हाथ जीत जाए। कैसे जीतेगा? दोनों हाथ मेरे ही हैं। मन का एक हिस्सा भाग रहा है और दूसरा हिस्सा उसको खींच रहा है और दबा रहा है। कैसे जीतोगे? हाँ, पूरा मन युद्धभूमि बन जाएगा और वहाँ लड़ाईयाँ चालू हो जाएँगी। तुम बँट जाओगे। तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े हो जाएँगे, मानसिक तौर पर।

तो यह कोशिश कभी मत करना। और मैं तुमको जो बात बोल रहा हूँ ये बात नई है क्योंकि तुम्हें आज तक यही बताया गया है कि मन को खींच कर लाओ वापस। मैं तुमसे कह रहा हूँ मन जहाँ जाता हो उसको जाने दो क्योंकि मन से लड़ाई कर के आजतक ना तो कोई जीता है, ना जीत सकता है।

मन को वहाँ जाने दो, उस के साथ-साथ जाओ। मन कुछ पाना चाहता है, हमने कहा था न मन का कुछ खो गया है, उसको वहाँ जाने दो, उसके साथ रहो, उसको दबाओ नहीं। मैं ये नहीं कह रहा हूँ कि तुम उसके साथ बेहोशी में रहो, तुम उसके साथ रहो, होश में और देखो कि, "तू कहाँ जा रहा है? अच्छा बता तुझे कहाँ जाना है?"

तुम पढ़ने बैठे हो और मन कह रहा है, "देखो! खिड़की के बाहर मौसम बहुत अच्छा है।"

"अच्छा ठीक है, तू मौसम को देखना चाहता है। चल देख लेते हैं मौसम को।"

तुम्हें एक बड़ी मज़ेदार चीज़ मिलेगी, जैसे ही तुम मौसम को देखने जाओगे मन कहेगा, "नहीं, नहीं ये नहीं देखना था।"

तुम कहोगे, "ठीक है बेटा। तुझे ये नहीं देखना, तो बता क्या देखना है?"

मन कहेगा, "वो न खेल आ रहा है, खेल देखना है।"

“अच्छा चलो मैच देखते हैं, साथ में देखेंगे, तू भी देख हम भी देखते हैं।”

मैच देखने बैठ जाओ, पाँच मिनट नहीं बीतेंगे कि वो उकता जाएगा, “नहीं नहीं, ये भी नहीं देखना था।”

“अच्छा अच्छा, क्या चाहिए फिर?”

“वो कुछ खाने का मन कर रहा था। किचन की तरफ चलो।”

“ठीक है, कुछ खा लेते हैं।” कितना खाएगा? झूठी भूख है, दो निवाले, चार निवाले।

“अरे नहीं, नहीं ये नहीं था वो दोस्त से बात करनी थी।”

“अच्छा चलो बात कर लेते है।” फालतू की बात भी कितनी देर करेगा?

और इस पूरी प्रक्रिया में मन को दोष मत देना, मन को दबाना नहीं, और ना बेहोश हो जाना। बिलकुल देखते रहना कि क्या चाहता है। जैसे छोटा बच्चा होता है न जो ज़िद कर रहा होता है, उसके साथ कैसे रहते हैं, “हाँ क्या चाहिए? लो ये लो, और बोलो क्या चाहिए?”

थोड़ी ही देर में मन को इस पूरी चीज़ की व्यर्थता दिखाई देने लगेगी। मन समझ जाएगा कि, "मैं जो कुछ माँग रहा हूँ वो मुझे चाहिए ही नहीं।" मन समझ जाएगा कि, "ये सब कुछ कर के मैं वर्तमान से भाग बस रहा हूँ। जो मौजूद है, उससे भाग रहा हूँ।" मन की सारी भाग-दौड़ रुक जाएगी और रुकते ही मन को वो मिल जाएगा जो उसे वास्तव में चाहिए।

मन जहाँ-जहाँ जाता है जाने दो उसे, सब्र रखो, कोई जल्दी नहीं है क्योंकि ज़िन्दगी भर वो भागता ही तो रहा है और क्या करा उसने? तो जब वो जा रहा हो तुम भी साथ हो लो, दोस्त की तरह साथ हो लो — *वॉचफुल फ्रेंड*।

“मैं तेरे साथ हूँ भाई, बोल क्या चाहिए तुझे? भविष्य की कल्पनाएँ करनी है? चल कर। तू भी कर, मैं देख रहा हूँ तू क्या कल्पना कर रहा है।” कितनी देर तक कल्पना करेगा? क्या कल्पना करेगा? वही घिसी-पिटी कल्पनाएँ करेगा, ये है, वो है। शांत हो जाएगा। और जैसे ही शांत होगा, मन समझ जाएगा कि ये शान्ति ही तो चाहिए थी, ये इच्छा-शून्यता ही तो चाहिए थी। फिर नहीं हिलेगा, फिर तुम्हें मन से लड़ना नहीं पड़ेगा।

मन का जो पूरा तरीका है, उसकी जो पूरी व्यवस्था है वो जानते हो क्या है? वो ये है कि जो उसके पास है, उसको वो भूलता है, पर चूँकि भूलता है इसीलिए कष्ट में आ जाता है। कष्ट में आते ही वो ढूँढता है, लेकिन ढूँढता वो सही जगह पर नहीं है, गलत जगह पर ढूँढता है।

मन को कुछ नहीं चाहिए होता, मन को शान्ति चाहिए होती है। शान्ति उसे उपलब्ध है पर उसे भूल जाता है, अशांत हो जाता है। अशांत होते ही शान्ति को ढूँढना शुरू करता है। और कहाँ ढूँढता है? जहाँ है वहाँ नहीं ढूँढता। वो उसको ढूँढता है भविष्य में, वो उसको ढूँढता है फ़ोन पर, वो उसको ढूँढता है फेसबुक पर, वो उसको ढूँढता है रिश्ते-नातों में, वो उसको ढूँढता है सेक्स में, कि ये सब में शायद शांति मिल जाएगी।

और उन सब में उसको मिलती नहीं और जितना उसको मिलती नहीं वो उतना और व्यग्रता से ढूँढता है। कहता है, “शायद इसलिए नहीं मिली क्योंकि मैंने ज़ोर से दौड़ नहीं लगाई। मैं और ज़ोर से दौड़ लगाऊँ तो शायद मिल जाए शांति। और जितनी ज़ोर से दौड़ लगाता है उतना और अशांत होता जाता है। ये मन की पूरी व्यवस्था है। इस तरीके से वो काम करता है इस बात को समझ लो। जैसे ही समझ लोगे, वैसे ही जान जाओगे की इसका पूरा चक्कर क्या है। इसका एक ही काम है, भागना। और भागने के लिए इसको दोष मत दो क्योंकि उसको कुछ चाहिए।

भागता इसीलिए है क्योंकि उसे कुछ चाहिए। जो उसको चाहिए वो उसे आसानी से मिल सकता है। तुम थोड़ी समझ से काम लो बस। जो उसको चाहिए वो उसको दे दो। उसको शान्ति चाहिए, उसको शांत हो जाने दो। उसको दबा कर उसको शांत नहीं कर पाओगे, उसके साथ लड़ कर उसको शांत नहीं कर पाओगे। होश में रहो, साथ में रहो,

होश में रहो और मन के साथ में रहो। फिर इसका खेल देखना। पढ़ने बैठो, मन इधर-उधर भागे, बिलकुल कोशिश मत करो लड़ने की। थम जाओ बिलकुल, ठहर जाओ। और पूछो, “हाँ भाई बताओ कहाँ जाना है तुम्हें?”

जैसे ही उससे ये पूछोगे, उसकी भागने की इच्छा आधी तो वहीं खत्म हो जाएगी। वो भागने की इच्छा करता भी इसीलिए है क्योंकि तुम दबाने पर तुले हो। जितना तुम उसको दबाते हो उतना उसकी भागने की इच्छा होती है। जैसे ही तुम ठहर जाओ, कहोगे, “ठीक, तेरी बात मानी, बोल क्या करना चाहता है?”

तो आधी इच्छा तो उसकी वहीं खत्म, बाकी बची आधी। आधी वो अपनी पूरी करने की कोशिश करेगा, तुम साथ में लगे रहो। जितना पूरा करने की कोशिश करेगा उतना उसको व्यर्थता दिखती जाएगी दौड़ धूप की। "ऐसे तो पूरी नहीं हो रही। ऐसे भी पूरी नहीं हो रही, ऐसे भी पूरी नहीं हो रही।"

“नहीं हो रही न पूरी बेटा। दिख रहा है?”

“हाँ, दिख रहा है।”

“तो फिर क्या करना है?”

“कुछ नहीं करना है।”

जैसे ही कहेगा, “कुछ नहीं करना है”, वो शांत हो गया। अब तुम्हें कोई एकाग्रता नहीं चाहिए। ज़रूरत ही नहीं है एकाग्रता की। एकाग्रता का अर्थ तो है विकर्षण से लड़ाई। उस लड़ाई की अब ज़रूरत ही नहीं है। तुम एकाग्र अब हो ही नहीं। मन भागना ही नहीं चाह रहा तो एकाग्रता की क्या ज़रूरत है? मन अब मौजूद है। अब अवलोकन चल रहा है। इस अवलोकन से एक नई चीज़ निकलेगी। इनसाइट , अंतर्दृष्टि, जो कंसंट्रेशन (एकाग्रता) से कभी नहीं निकल सकती।

एकाग्रता तुमको सतह-सतह पर बता सकती है कि क्या है, पर वो तुमको गहरी पैनी अंतर्दृष्टि नहीं दे सकती। अंतर्दृष्टि समझते हो? एक ऐसी नज़र जो छुपे हुए को भी जान लेती है। जो नहीं लिखा है उसको भी पढ़ लेती है। जो नहीं कहा जा रहा है उसको भी सुन लेती है। वो चीज़ तुमको कंसंट्रेशन नहीं दे सकता।

इसी कारण तुमने एकाग्रता कर के जो भी करा है उसमें तुम्हें कुछ विशेष मिला नहीं है। थोड़ा बहुत कुछ मिल गया है, पर पूरा-पूरा कभी नहीं मिला है क्योंकि पूरा-पूरा कभी एकाग्रता से मिलता भी नहीं है। एकाग्रता से नहीं मिलता, वो ध्यान से मिलता है।

प्र२: सर, अगर ऐसे देखा जाए तो इच्छाएँ तो बहुत सारी हैं। फिर मन तो कभी शांत ही नहीं होगा हमारा।

आचार्य: मन तब तक शांत नहीं होगा जब तक तुम उन इच्छाओं को महत्व देते रहोगे। जानते हो तुम इच्छाओं को महत्व कैसे देते हो? उनको दबा करके। इच्छा बड़ी, और बड़ी, और बड़ी, जानते हो कैसे हो जाती है? क्योंकि तुमने उसके साथ बड़ी ज़बरदस्ती करी है। इच्छा के साथ जितनी ज़बरदस्ती करोगे वो उतनी भीमकाय होती जाएगी।

प्र२: सर अभी आपने कहा कि एकाग्रता से नहीं, कोई चीज़ हमें ध्यान से मिलती है। सर अगर हम एकाग्र ही नहीं होंगे तो ध्यान कैसे लगा पाएँगे?

आचार्य: तुम समझे ही नहीं हो फिर एकाग्र का मतलब। तुम्हारे मन में एकाग्र का वही अर्थ घूम रहा है जो पहले से लेकर बैठे हो। जब एकाग्र हो तो तुम लड़ रहे हो लगातार।

प्र२: मगर मन से तो कोई लड़ ही नहीं सकता।

आचार्य: पर तुम तो लड़ते हो न, असंभव को संभव करना चाहते हो। अगर नहीं लड़ते तो एकाग्रता का प्रश्न नहीं पैदा

हो सकता न, बेटा। एकाग्रता का तो अर्थ ही है लड़ना। और जिस एकाग्रता में लड़ाई नहीं, वो तो एकाग्रता रही ही नहीं, वो तो ध्यान हो गया।

एकाग्रता का तो अर्थ ही है लड़ाई। इसीलिए मैंने शुरू में ही कहा था कि एकाग्रता के साथ ही विकर्षण आता है, यदि एकाग्रता ना हो तो क्या तुम बात भी करोगे एकाग्रता की? तुम्हें एकाग्रता की बात भी इसीलिए करनी पड़ती है, तुम कहते हो, “मैं एकाग्र होना चाहता हूँ।” ये तुम्हें बात भी इसीलिए करनी पड़ती है क्योंकि तुम हर समय कैसे रहते हो? अन्यमनस्क। तो एकाग्रता का तो अर्थ ही है बिखरा हुआ मन। वरना एकाग्रता का सवाल ही क्यों पैदा होगा?

प्र२: अगर हम पढ़ रहे हैं और एक ख्याल आता है कि, "नहीं चलो टी.वी. देखते हैं", और फिर एक ख्याल ये भी आता है कि, "कल परीक्षा है चलो टीवी नहीं देखेंगे, पढेंगे।" तो फिर विकर्षण कहाँ है?

आचार्य: तुमने जीवन भर यही किया न कि पढ़ने बैठे और मन भाग रहा है टी.वी. की ओर, और मन भाग रहा है इधर-उधर। ठीक? वो तुम्हारी नहीं सबकी कहानी है। ये जो दिमाग में ध्यान आ रहा है इसने मन को दो हिस्सों में बाँट दिया। एक हिस्सा कह रहा है, "देखो!" दूसरा हिस्सा कह रहा है, "पढ़ो!"

प्र: सर ,एक ख्याल आया था और वो चला गया।

आचार्य: चला नहीं गया। तुम मन को समझ नहीं रहे हो। कोई भी ख्याल कभी जा नहीं सकता। फ्रायड की पूरी-पूरी खोज ही यही है मन की। पूरा जो उसका मनोविज्ञान का विश्लेषण है वो यही है।

प्र: सर, इस तरह से तो आदमी पागल है?

आचार्य: आदमी पागल है। आदमी पागल है, पूरी तरीके से। फ्रायड की पूरी रिसर्च ही यही है कि कोई ख्याल कभी मन से जा सकता नहीं है। पुराने समय में हमने लगातार ये माना था कि अगर विचार को अहमियत ना दो, अगर विचार को दबा दो, चित्त निरोध कर दो, तो वो ख्याल चला जाता है। फ्रायड ने बहुत प्रयोग करके एक नई चीज़ बताई

हमको।

उसने कहा जाता नहीं है, मन का एक कमरा होता है, मन एक कमरे जैसा है, उस कमरे का एक बेसमेंट भी है। तुम जिस विचार को दबा देते हो वो उस कमरे से तो हट जाता है, ये कमरा सोच का कमरा है। तुम्हें लगेगा नहीं कि विचार बचा है। पर वो कमरे से हट कर तहखाने में घुस जाता है, वो दिमाग के तहखाने में घुस जाता है। और वहाँ पर जा कर के वो तुम्हारे जीवन को ज़बरदस्त रूप से प्रभावित करता है। तुम्हें दिन में सेक्स का ख्याल आता है तुम उसको दबा देते हो, वो रात में सपना बन कर आएगा।

तुम्हे पता भी नहीं चलेगा कि, "मुझे ये सपने क्यों आते हैं?" वो सिर्फ इसी कारण आते हैं क्योंकि दिन में जब वो ख्याल आता है तो तुम कहते हो, “छिः! गन्दी बात!” और उसको दबा देते हो, अब वो बेसमेंट में चला गया। अब वो सपना बनेगा। सपना अगर नहीं बना तो भी वो तुम्हारी वृत्ति बन जाएगा और तुम पाओगे कि अजीब घटनाएँ हो रही हैं। लड़कियाँ सामने से निकलती हैं और उनकी तरफ नज़र उठ जाती है अपने आप। क्या नज़र तुमसे पूछ कर उठ रही है? नहीं, अपने आप उठ रही है। ये कहाँ से उठ रही है? ये उसी ख्याल की करतूत है जिसको तुमने दबा दिया था, और वो ख्याल बहुत छोटा सा था।

तुम पाओगे कि जिस प्रकार के अपराध जिस समाज में सबसे ज़्यादा होते हैं वो समाज वही है जिसने उन बातों पर सबसे ज़्यादा बंदिश लगा रखी होती है। जितना दबाओगे, तुम विचार को उतनी ऊर्जा दोगे। तुम सोचते हो कि दबाने से विचार चला गया।

मन हँसता है, मन कहता है, “पगले, तुम जानते भी नहीं हो कि वो दबाने से जाता नहीं है वो स्प्रिंग की तरह है।" स्प्रिंग को दबाओ तो स्प्रिंग छोटी हो जाती है पर साथ ही वो कुछ इकट्ठा कर लेती है? क्या? जितनी ऊर्जा तुमने इस्तेमाल की उसको दबाने के लिए, स्प्रिंग उसको पी गई है। तुमको लग रहा है स्प्रिंग तो गई, छोटी सी हो गई है, कहाँ बची? तुमको पता भी नहीं है अब होगा क्या। तुम्हारी ही इस ऊर्जा का इस्तेमाल कर के अब वो स्प्रिंग उछलेगी और फिर तुम ये कहोगे, "ये? मैं ऐसा कैसे कर सकता हूँ?" ये तुम्हीं ने किया है।

उसको दबाने की कोशश कर-कर के तुमने उसको ताकतवर बना दिया है। ये हत्यारे, ये बड़े-बड़े लुटेरे, ये

बलात्कारी, तुम्हें लगता है कहाँ से आते हैं? ये सब दमन के परिणाम हैं, तुम इतना दमन करते हो कि अंततः विस्फ़ोट हो जाता है। तुम अपने आप को ही इतना दबाते हो कि अंत में बिलकुल ज्वालामुखी फटता है और फिर तुम कहते हो, “ये क्या हो गया?”

उदाहरण के लिए जो लोग कभी गुस्सा व्यक्त नहीं करते, वो जिस दिन गुस्से में आते हैं, उस दिन दूर-दूर रह लेना। जो आदमी बिलकुल पी जाता हो वो जिस दिन फटता है, जो आदमी बात-बात पर चिढ़ जाता है, बात-बात पर गुस्सा व्यक्त कर देता है, वो ठीक है, वो कोई बड़ा नुकसान नहीं पँहुचा सकता। लेकिन जो आदमी कभी गुस्सा व्यक्त ना करता हो, उससे भगवान बचाए। वो जिस दिन फटता है, उस दिन दो-चार लाशें गिरती हैं। क्योकि वो जो उसने व्यक्त नहीं होने दिया वो उसके भीतर अब इकट्ठा हो रहा है, इकट्ठा हो रहा है। फिर फटेगा, ज़बरदस्त रूप से फटेगा।

संचय होता रहा है उसका। जैसे कि तुम्हारी साँस रोक दी जाए तीन मिनट को और फिर जब छोड़ा जाए तो कैसी साँस लोगे? (तेज़ी से साँस लेकर दिखाते हैं) जैसे पी जाना चाहते हो पूरी दुनिया को ही, ऐसे साँस लोगे। वैसी ही हालत होती है हमारी। हमें लगातार घर परिवार ने, धर्म ने शिक्षा ही यही दी है कि दबाओ, और यह शिक्षा बड़ी ही उलटी शिक्षा है। वास्तव में पूछो तो किसी भी जानने वाले ने कभी भी दमन की शिक्षा नहीं दी है, पर नासमझों को बात समझ में नहीं आई, तो उन्होंने कहा, "इसका मतलब शायद यह है कि दबाओ।"

कुछ अच्छी बाते हैं वो जो मन में आनी चाहिए और कुछ बुरी बाते हैं वो मन में नहीं आनी चाहिए। "छि छि, ये तो छि छि है।" और नासमझों को यह समझ में नहीं आया कि वो छि छि दबा-दबा करके पूरे मन में भर गई है, और पूरा मन अब बिलकुल महक रहा है उसी से।

इसीलिए अगर तुम किसी मनोचिकित्सक के पास जाओ और तुम उससे कहो कि, "मुझे गुस्सा बहुत आता है", या, "मैं निराश बहुत रहता हूँ", या, "मैं अचानक फट पड़ता हूँ", या, "मेरे भीतर सेक्स को लेकर बड़ा तूफ़ान मचा रहता है।" तो वो तुमको एक अकेले कमरे में छोड़ देगा और कहेगा, "कोई कैमरा नहीं लगा यहाँ कुछ नहीं है, दीवारों पर जितना हाथ मारना है मारो, पागल हो कर चिल्ला सकते हो चिल्लाओ, बच्चा बन सकते हो, कुत्ता बन सकते हो, कपडे फाड़ दो, चीज़ें तोड़ दो। जो करना चाहते हो करो।" इसको कहते हैं रेचन।

जिबरिश एक तकनीक है, वो यही करती है। तकनीकी रूप से कैथारसिस इसका नाम है, रेचन हिंदी में, अंग्रेजी में *कैथारसिस*। कैथारासिस का अर्थ ही यही है कि यह गन्दगी जो इकठ्ठा कर ली है, इसको बहने दो क्योंकि और कोई तरीका नहीं है इसके ख़त्म होने का बहने के आलावा।

तो बिलकुल मत सोचना कि कोई भी विचार तुम खत्म कर सकते हो। जिसको तुमने ख़त्म जान लिया इस वक़्त वो तुम पर हँस रहा होगा। कह रहा होगा, “खत्म हो गया हूँ? अभी बताऊँगा मैं। मैं दिख नहीं रहा हूँ, छुप गया हूँ। मैं जब सामने आऊँगा तो तेरी हवा खराब हो जाएगी। तुझे पता भी नहीं चलेगा कि तेरा यह रूप भी है।”

लोगों के देखे हैं न, कई-कई रूप होते हैं। तुम कहते हो, "यह तो बड़ा सभ्य आदमी लगता था इसने ऐसा कैसे कर दिया?" वो वही है, वो छुपा हुआ था अन्दर वो निकल पड़ा, अन्दर का दानव। वो दानव है नहीं, वो एक छोटा सा विचार होता है पर तुमको शिक्षा यह मिली हुई है कि इसको दबाओ। तो दबा-दबा कर तुम उसको बड़ा कर देते हो जैसे गुब्बारा, फुलाए जा रहे हो, फुलाए जा रहे हो। था कुछ नहीं, छोटी सी बात थी।

छोटा सा बच्चा है, ज़्यादा उम्र नहीं दस-बारह ही साल का, वह जा रहा है किसी लड़की से बात करने, माँ ने टोक दिया, “अब बड़े हो रहे हो, लड़कों में खेला करो लड़कियों से नहीं बात करते।” हो कुछ नहीं जाता। थोड़ा-बहुत खेलता, कूदता जो आम तौर पर होता है बच्चों में, चुहलबाज़ी करते, थप्पड़-थूप्पड़ चलाते, वापस जाकर सो जाता, खत्म। पर अब टोक दिया गया है, अब वो कहेगा, "गड़बड़ है बात कुछ", अब वो खेलेगा कम और लड़कियों की ओर ज़्यादा देखेगा, कहेगा, “रोका गया है बात कुछ है, वरना रोका नहीं जाता।”

बात कुछ भी नहीं थी, बड़ी स्वाभाविक सी बात है। एक लड़का है एक लड़की है वो आपस में मिलना चाहते हैं, इसमें कोई बड़ी बात नहीं। पर तुम्हें रोक दिया गया, अब बड़ी बात हो गई और अब मन उधर को ही भागेगा, और जितना रोका जाएगा उतना ही भागेगा। जितना ज़्यादा रोका जाएगा उतना ही भागेगा। हैरान कर देगा तुमको, पगला जाओगे। तुम जैसे हो ठीक हो, कोई दिक्कत नहीं है।

जिसने तुमको बनाया है, जिस स्रोत से तुम आए हो, उसी स्रोत से तुम्हारी इच्छाएँ भी आती हैं। इच्छाओं को पाप मत समझ लेना। मन पूरा होना चाहता है इसी कारण मन में इच्छा है। कोई इच्छा पाप नहीं होती, नासमझी पाप होती है,

बेवकूफी पाप होती है, इच्छा पाप नहीं है। बेहोशी पाप है क्योंकि होश लेकर के आए हो तुम, इच्छा लेकर के आए हो न, होश भी है। होश में जियो। इच्छा भी उठे तो उसे देखो ध्यान से, होश में। उससे लड़ो नहीं, दबाओ नहीं। मामला क्या है? बात क्या है? और इसी का नाम परिपक्वता है। मैं अपनी इच्छाओं को भी समझता हूँ, मैं इस मन के हर क्रियाकलाप को समझ रहा हूँ।

“अब डर लगता है यह सब सुन कर कि सर इच्छा तो बड़ी भयानक-भयानक है, अगर पूरी करने चले तो क्या होगा?” कुछ नहीं होगा। पहली बात तो यहाँ बैठे हुए हो इसीलिए इच्छा बड़ी-बड़ी है। मन उस छोटे बच्चे की तरह है जो बैठ कर तो बहुत मचलता है पर जब उससे पूछो, "अच्छा क्या चाहिए? चलो बाज़ार खरीद देते हैं।" तो उसे कुछ विशेष नहीं चाहिए। उसको असल में ध्यान चाहिए। वो यह सब करता ही इसीलिए है क्योंकि कोई ध्यान नहीं दे रहा न उस पर। ध्यान दे दो, पूछ लो, "क्यों उदास है? क्यों परेशान है? क्यों मूड ख़राब है?" वो ठीक हो जाएगा। छोटे बच्चे से ज़्यादा बड़ा नहीं होता ये (सिर की तरफ इशारा करते हुए)। इसे प्यार से रखो, लड़ो नहीं।

तुम्हारे साथ एक छोटा बच्चा हो उससे लड़ोगे? “अरे तू पापी, आज फिर तूने चड्डी में कर दी। दुष्ट, राक्षस, असुर, अधम, नर्क में सड़ेगा।” बच्चा तुरंत बड़ा हो जाएगा ये सब बाते सुन कर। पाँच-सात शब्द नए सीख लिए उसने – दुष्ट और राक्षस और असुर। दिल तो बच्चा है जी। (मुस्कुराते हुए)

....

(कानपुर, 2013)

निन्दा कहाँ से? अहम् या स्रोत?

निन्दक तो है नाक बिन, सोहै नकटी माहि। साधुजन गुरुभक्त जो, तिनमे सोहै नाही।।

निन्दक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय। बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करे सुभाय।।

~ सन्त कबीर साहब

आचार्य प्रशांत: निंदक तो है नाक बिन। नाक से अर्थ है — मान, कीमत। उसकी अपनी कोई कीमत नहीं होती है। उसकी अपनी कोई कीमत नहीं हो सकती है, जिसमें निंदा का भाव हो, क्योंकि निंदा करने का अर्थ ही यही है कि पूरी बात देखी नहीं। जहाँ आधी-अधूरी तस्वीर दिखाई देगी, वहीं पर लगेगा कि कुछ ऐसा हुआ है जो नहीं होना चाहिए था। कोई ऐसा है जैसा उसे नहीं होना चाहिए।

ऐसा सिर्फ तब लग सकता है जब एक बहुत संकीर्ण दृष्टि हो, जब बात पूरी दिखाई ही ना दे रही हो। दुनिया में जो कुछ भी जैसा है, उसकी अपनी एक यात्रा है। उस यात्रा के बिना वो वैसा हो नहीं सकता था। चक्र पूरा करके ही वो वहाँ तक पहुँचा है और जहाँ अभी पहुँचा है, वहाँ वो सदा रहेगा नहीं। वहाँ से वो आगे बढ़ता ही रहेगा। जिधर को भी आगे बढ़ेगा, जहाँ पर भी अब उसके कदम पड़ेंगे, पग-पग पर अपूर्णता ही है।

वो अपूर्णता किसी एक खास दृष्टि से देखने पर आपको अच्छी भी लग सकती है। दूसरी दृष्टि से देखने पर वही अपूर्णता निंदा योग्य लगेगी, अंतर सिर्फ दृष्टि का है। था वो पहले भी यात्रा पर, है वो अभी भी यात्रा पर। यात्रा अभी पूरी हुई नहीं है। वो दृष्टि है जो निंदा करती है क्योंकि दृष्टि भी स्वयं अपूर्ण है। दृष्टि उससे जो चाहती थी, वो उसको वहाँ दिखाई दे नहीं रहा है। इस कारण निंदा की ज़रूरत पड़ती है। “निंदक तो है नाक बिन”।

जब तक पूरी बात दिखाई नहीं देगी, निंदा तब तक रहेगी-ही-रहेगी। ये वैसा ही होगा जैसे कोई पाप की निंदा करे और पुण्य की प्रशंसा। इस आदमी को पूरी बात अभी दिखाई ही नहीं दे रही है। ये समझ ही नहीं पा रहा है कि पाप के बिना पुण्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है। तो ये पाप की निंदा करे जाएगा। ये वैसा ही होगा जैसे कोई सफ़ेद की निंदा करे या काले की निंदा करे और उसके विपरीत की प्रशंसा करे। निंदा, प्रशंसा एक साथ चलते हैं। जो प्रशंसा

करने में उत्सुक है, निश्चित रूप से वो कहीं-न-कहीं निंदा भी कर रहा है। बिना निंदा के प्रशंसा नहीं आएगी।

फिर सवाल ये उठता है कि दूसरे ही दोहे में कबीर ये क्यों कह रहे हैं कि “निंदक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय”। इनमें विरोधाभास क्यों दिखाई दे रहा है? एक तरफ तो कह रहे हैं कि “निंदक तो है नाक बिन”, एक तरफ तो कह रहे हैं कि “साधुजन गुरुभक्त जो, तिनमें सोहै नांहि”। जो साधुजन हैं या जिन्होंने गुरु भक्ति को पा लिया है, अब उनके जीवन में निंदा शेष नहीं रह जाएगी। दूसरी ओर वो ये क्यों कह रहे हैं कि “निंदक नियरे राखिये”?

“मैं अपूर्ण हूँ और अपूर्ण के रूप में ही अपने आप को मान्यता देता हूँ”, ये बताने वाला भी कोई होना चाहिए। घटना क्या घटती है इसको ठीक से देखेंगे। निंदक अपनी ओर से आपकी कीमत छोटी करके बता रहा है। नहीं, निंदक हितैषी नहीं है आपका। वो अपनी ओर से तो आपको ये ही बताना चाह रहा है कि, "तुम छोटे हो, तुम में कुछ ऐसा है जो स्वीकार्य नहीं है, तुम में कुछ ऐसा है जो बिलकुल ही गर्हित है।"

निंदक तो यही बता रहा है। लेकिन निंदक के माध्यम से आप ये समझ जाते हैं कि, "मैं अभी किसी-न-किसी गुण में ही जी रहा हूँ क्योंकि निंदा किसी-न-किसी गुण की ही की जाती है।" गुण का क्या अर्थ है? कि कुछ-न-कुछ अभी मेरी पहचान बाकी है। निंदा सिर्फ उसी की हो सकती थी।

बात ये नहीं है कि निंदा ठीक है इस कारण कबीर कह रहे हैं कि “निंदक नियरे राखिये”। बात ये नहीं है कि निंदा में जो कहा जा रहा है वो तथ्य परख है। बात सिर्फ इतनी सी है कि कुछ तो है न जिसकी निंदा की जा रही है। नहीं, क्या है? ये निंदा करने वाले ने बिलकुल नहीं समझा है कि क्या है? पर कुछ तो दिखाई दिया न।

आसमान की निंदा नहीं हो सकती। खाली आकाश की निंदा नहीं हो सकती। कुछ गुण दिखा, कोई तत्व दिखा जिसकी निंदा हो रही है। और जब तक कुछ भी है आप में—दायाँ या बायाँ, ऊँचा या नीचा, गोरा या काला, आपमें कुछ भी शेष है तो अभी पूर्णता उपलब्ध नहीं हुई है। ये बिलकुल नहीं कहा जा रहा है कि जब तक कुछ भी शेष है, तो आप निंदनीय हैं। निंदनीय नहीं हैं, पर अभी आप ‘हैं’। अंतर समझिएगा, आप निंदनीय नहीं हैं पर अभी ‘हैं’। होने से क्या अर्थ है?

प्रश्नकर्ता: पहचान *(आइडेन्टिटी)*।

आचार्य: आप बाकी हैं, पहचान बाकी है, अहम् बाकी है। मात्र उसी की निंदा हो सकती है। तुम निर्गुण की निंदा कैसे करोगे? क्या बोल कर निंदा करोगे उसकी? तुम उसको जो भी बोलोगे, वो है ही नहीं वो। तो उसकी निंदा हो ही नहीं सकती। तुम किसी विशेष की ही निंदा कर सकते हो न? तुम निर्विशेष की निंदा कर ही नहीं सकते।

दूसरे तरीके से देखो, तुम निंदा उसी की कर सकते हो जो नदी के उस पार हो या नदी के इस पार हो। तुम कहोगे, “जो उस पार वाले हैं वो ख़राब, जो इस पार वाले हैं वो अच्छे”। तुम उसकी निंदा कैसे करोगे जो कभी इस पार है और कभी उस पार है? वो न इधर का है, न उधर का है, वो दोनों तरफ़ का है और किधर का भी नहीं है।

प्र: इसमें जिसकी निंदा हो रही है उसके बारे में ज़्यादा पता लग रहा है या जो निंदा कर रहा है उसके बारे में, क्योंकि अगर मैंने अब जिसकी निंदा हो रही है उसकी भौतिक अवस्था (फिजिकल स्टेट) , होगी, वो भौतिक अवस्था निंदा करने वाले ने पहली बार देखी है।

उदाहरण के लिए, आपने पीला कुर्ता पहन रखा है, मुझे काला पसंद है। तो मैं इस चीज़ की निंदा करूँगा। मगर मैं नहीं जानता कि और कितने पहने होंगे, और क्या–क्या कपड़े पहने होंगे। ये सब मैं कुछ भी नहीं जानता। तो जब मैं निंदा कर रहा हूँ तो वो मेरी सीमा (लिमिटेशन) बता रही है। क्योंकि आपकी...

आचार्य: जो पहला दोहा है, वो निंदक के लिए है कि जिसमें निंदा का भाव उठे, वो पगला है। निंदा का भाव उठे, वो पगला है, इससे अर्थ ये नहीं कि सब कुछ प्रशंसनीय है। ग़लत मत समझ लीजिएगा। किसी की निंदा नहीं करनी है इसका ये अर्थ बिलकुल भी नहीं है कि हमेशा तारीफें करती रहनी हैं, क्योंकि निंदा और प्रशंसा एक ही बात है। दूसरे सिरे पर मत कूद जाइएगा कि, "नहीं-नहीं किसी की बुराई मत करो, सिर्फ तारीफें करो।" होते हैं ऐसे लोग, जिनको कुछ भी मिले वो उसकी तारीफ़ ही करना शुरू कर देते हैं। वो भी पगले हैं।

जो पहला दोहा है, वो निंदक के लिए है, जो निंदा करने में बड़ा आतुर रहता हो। जो दूसरा दोहा है, वो उसके लिए है, जिसको सद्बुद्धि है, जो मुक्ति की राह पर है। उसको कहा जा रहा है कि अगर कोई आ करके तुम्हारा कोई भी गुण इंगित करता है, तुम्हारे लिए बहुत अच्छा है, उसको पास बैठाओ। उसने कुछ तो देखा तुम में। अभी तुम शेष हो, वो इशारा कर रहा है।

दोनों दोहे अलग-अलग लोगों से कहे गए हैं। पहला उससे कहा गया है, जो निंदा करने में बड़ा उत्सुक है। दूसरा उससे कहा गया है, जिसे निंदा सुननी पड़ रही है। तुम्हारी निंदा हो रही है, "निंदक को नियरे राखो", यहाँ पर भी धोखा मत खा जाइएगा। कबीर ये नहीं कह रहे हैं कि तुम्हारी जो भी निंदा की जा रही है वो ठीक है। ये बिलकुल भी नहीं कह रहे हैं। कबीर कह रहे हैं कुछ भी अगर किसी ने कहा तो कोई तो है न जिसके बारे में कहा। नहीं, जो कहा उसमें कोई दम नहीं है।

मैं जा करके यहाँ पर एक पेंटिंग बनाऊँ और मैं बहुत घटिया पेंटिंग बना दूँ इस दीवार पर। और तुम जा करके इसी दीवार पर एक बहुत ख़ूबसूरत पेंटिंग बना दो। ये जा करके कुछ और बना दें, वो जा कर के कुछ और बना दें, ये कुछ और बना दें। सत्रह तरह के चित्र हो सकते हैं, हमारी सत्रह तरह की मनोस्थितियों पर निर्भर करते हुए, ठीक है न? हो सकते हैं कि नहीं हो सकते हैं? जितने लोग उतने चित्र बनेंगे, पर उन सभी चित्रों में एक बात है जो निरंतर मौजूद है। क्या?

प्र: दीवार।

आचार्य: दीवार। दीवार थी तभी चित्र बन पाए, न होती दीवार तो चित्र कहाँ से बनते? कबीर यही कह रहे हैं कि दीवार है। तुम लेट जाओ जा करके खुले आसमान के नीचे और ऊपर बादल हैं और दस लोग लेट जाओ, और पूछो कि, "ऊपर क्या है?" किसी को हाथी दिखाई देगा, किसी को महल, किसी को घोड़ा, किसी को कोई शक्ल दिखाई देगी, किसी को कोई और आकृति दिखाई देंगी। नहीं, कबीर ये नहीं कह रहे हैं कि उनमें से एक आकृति दूसरे की अपेक्षा ज़्यादा सच्ची है। कबीर बस इतना ही कह रहे हैं कि यदि अभी आकृतियाँ दिखाई दे रही हैं तो इसका मतलब कि बादल हैं। आसमान अभी घिरा हुआ है। बस यही कह रहे हैं वो।

जब कहते हैं "निंदक नियरे राखिये" तो आशय इतना ही है कि बादल अभी हैं। बादल ना होते तो ये कुछ भी ना कह

पाता। या बादल ना होते तो जो कहता, उसका विपरीत भी उसे कहना पड़ता। तो इस कारण वो कह रहे हैं कि निंदक साबुन बिना पानी बिना निर्मल कर जाता है। निंदक में और कोई पात्रता नहीं है, बिलकुल कोई पात्रता नहीं है।

प्र: अगर कोई मुझे दुःख पहुँचा पा रहा है तो ये देखना है कि कुछ तो है जो अभी दुखी हो रहा है।

आचार्य: सही। अब यही समझो न, बिलकुल अच्छा उदाहरण है। एक पगला है, वो बिलकुल बेसिर-पैर की बातें कर रहा है। और वो आपके सामने से गुज़र जाता है। बिलकुल बेसिर-पैर की बातें। वो आपको जानता नहीं और वो गालियाँ सुना जाता है आपको, और आहत हो जाते हैं आप। इस आहत होने से क्या ये सिद्ध होता है कि पागल जो कुछ कह रहा था, वो ठीक था?

पागल की कोई कीमत नहीं। एक पागल है, वो आपको गालियाँ सुना जाता है और ये बात हम सब पर लागू होती है। पागल भी आ करके अगर हमें गालियाँ दे जाए, तो कहीं-न-कहीं हमें बुरा ज़रूर लग जाएगा। क्या इसका ये अर्थ है कि पागल जो कुछ कह रहा था, उसमें कोई दम था, कुछ तथ्य था उसमें?

पागल आपसे बोल गया कि, "तेरे सिर पर तो पूँछ लगी हुई है।" क्या इस बात में कोई दम है? पर आप आहत हो जाएँगे। इसमें कोई शक़ नहीं है। कबीर ये ही कह रहे हैं, तुम्हारा आहत होना दिखाता है कि अभी निर्मल नहीं हुए हो। इस कारण निंदक को नियरे रखो। वो जो बोलेगा, वो बात नहीं है। असली बात वो है कि तुम्हें लगा क्या। अभी अगर तुम्हें उसके बोलने में निंदा लग ही रही है, तो भला है कि वो बोलता जाए। तुम सचेत रहोगे इस बात के प्रति कि अभी भी मुझे बुरा लगता है। और तुम्हारा ये सचेत रहना तुम्हारे बड़े काम आएगा, यही बोध है।

जो दूसरा दोहा है, ये समर्पित है उनको जिन्हें निर्मल होना है। पहला दोहा उनको, जिनकी निंदा में बड़ी उत्सुकता है। तो उनसे साफ़-साफ़ कह रहे हैं कबीर कि, "कुछ है जो तुम्हारे मन मुताबिक नहीं है, इसी कारण तुम निंदा कर सकते हो।" नहीं प्रशंसा मत करो उसकी, पर साफ़-साफ़ समझो कि जो कुछ है उसमें। तत्व तो एक ही है। तो इसीलिए जो निंदनीय है वो भी मूलतः वही है जो तुम्हें प्रशंसनीय लगता है।

ठीक है चलो, संसार चलाना है, व्यवहार चलाना है, कर लो निंदा। कर लो किसी की स्तुति भी, पर ये मत भूलना निंदा या प्रशंसा के गहरे क्षण में भी कि तत्व तो इसका वही है— 'एक'। उस एक के अलावा कुछ होता नहीं।

राबिया की वो कहानी सुनी है न हम सबने? हसन फ़कीर थे। ये शुरुआत के सूफ़ी हैं। तो राबिया से मिलने आए, रुके, फिर सुबह-सुबह राबिया से कहते हैं कि, "क़ुरान पाक कहाँ है?" सुबह की नमाज़ का वक्त था। राबिया ने दी, पढ़ने लगे। देखते हैं, उसमें राबिया ने कुछ बदलाव कर रखे हैं, काट रखा है। क्या काट रखा है? कि लिखा हुआ है शैतान से नफ़रत करो, वो भी काट दिया है। अब ये बड़ी ग़लत बात। आप एक धार्मिक पुस्तक में संशोधन कैसे कर सकते हैं? आप उससे भी बड़े हो गए? हसन ने कहा, "ये क्या किया तूने?" वो बोली, "अब शैतान में भी वही दिखाई देता है, तो नफ़रत कैसे करूँ?"

निंदा, नफ़रत, आप तभी तक कर पाओगे, जब तक भेद दिखाई देते हों, जब तक द्वैत दिखाई देते हों। यही कबीर सन्देश दे रहे हैं। ऐसा नहीं है कि शैतान, शैतान नहीं है। प्रकट तो वो शैतान के ही रूप में हो रहा है। इसमें कोई दो राय नहीं हैं। लेकिन मूलतः शैतान भी भगवान है। कोई शैतान ऐसा नहीं है जो भगवान होने की यात्रा पर नहीं है। चक्र चल रहा है बस। आज कुछ है, कल कुछ और होगा। अंततः उसे मिट जाना है, वही हो जाना है, जो वो था।

प्र: ये जो दूसरा वाला हिस्सा था, राबिया की कहानी से पहले, वो थोड़ा सा गड़बड़ हो जाता है जब आप कह रहे हैं न कि संसार है, उसमें प्रशंसा और निंदा चलती ही रहेगी, ये तो होगी ही। अब यहाँ पर लाइसेंस मिल जाता है। ये एक नियम की तरह है। न ही प्रसंशा, न ही निंदा कुछ दिनों के लिए। आम नुस्ख़ा। तो वो फिर भी करने योग्य है। जिस क्षण मैं मुक्त होता हूँ, अब मेरी हर निंदा और हर प्रशंसा...

आचार्य: जैसे ही ये होता है कि ना प्रशंसा करनी है, ना निंदा करनी है, तुमको जड़ होने की सुविधा मिल जाती है। बड़ा आसान हो जाता है, जड़ हो जाओ। एक नियम मिल गया है न; और नियम तो जड़ता को, बेहोशी को आगे बढ़ाता है। "मुझे कुछ करना ही नहीं है। समझ की आवश्यकता कहाँ है?" जीवन जीने का मज़ा तब है, जब ऊपर-ऊपर जो भी चलता रहे, नीचे होश कायम रहे, तभी तो बात है न?

प्र: नहीं, मैं जो कह रहा हूँ वो ये कि जैसे आपने कहा कि निंदा और प्रशंसा चलती है मगर ऊपर-ऊपर, वही है कि निंदा करना, निंदक मत बन जाना। वो अन्दर न रहे। मगर फिर ये होगा कि मैं निंदक बन रहा हूँ, मैं निंदा भी कर रहा

हूँ मगर मैं अपने आप को फिर ये भी बता रहा हूँ, कि जो चालाकी इसमें देख रहे हैं, मैं अपने आप को फिर ये भी बता रहा हूँ कि मैं निंदक नहीं हूँ, मैं सिर्फ निंदा कर रहा हूँ, मैं इससे अलग हूँ।

आचार्य: ये मैं कब बता रहा हूँ, निंदा करने के बाद या ठीक उसी क्षण मुझे याद है?

प्र: बाद में।

आचार्य: तो फिर उसकी कोई कीमत नहीं है, उनको छोड़ो। अगर ये नियम ही बना लिया जाए तो बहुत आसानी हो जानी है पर आसानी से हमें कुछ मिलना नहीं है। ये नियम बन जाए कि भई चलिए ये एक छोटा सा समुदाय है और यहाँ कोई किसी की निंदा नहीं करेगा, कोई किसी की प्रशंसा भी नहीं करेगा। बड़ी अच्छी बात है। कोई कर भी रहा होगी किसी की बुराई तो दूसरा टोक देगा कि, "न-न-न, हमारे यहाँ तो नियम है।"

अब आपके लिए बड़ा आसान हो गया, अब ये आपकी आदत बन गई। और आदत बेहोशी है, नियम बेहोशी है। उसमें कुछ नहीं करना है। जिस राबिया की हम बात कर रहे हैं, इसी राबिया ने, कहा जाता है, एक दूसरे मौके पर हसन को बड़ी डाँट लगाई थी। वो निंदा जैसी ही दिखेगी। अब सवाल ये उठता है कि वो राबिया जो शैतान से नफ़रत करने को नहीं तैयार है, वो एक संत को डाँट कैसे लगा रही है? हसन को कैसे डाँट लगा रही है?

अब विरोधाभास देखिए न, कहती है शैतान से नफ़रत नहीं कर सकती और हसन को डाँट लगा रही है। ये कैसे हो गया? क्योंकि जो खेल खेलने के लिए हम प्रकटे हैं, वो खेल तो खेलना ही है। खेल खेलते भी रहें और याद भी रहे कि खेल मात्र है, तब खेलने का मज़ा है। डूब कर खेलें, तब भी याद रहे कि सिर्फ खेल ही तो रहे हैं। ना तो ये हो जाए कि, "अरे सिर्फ खेल है तो क्यों खेलें? छोड़ ही दो, त्याग दो।" ना, क्योंकि खेलने के अलावा तुम्हारे पास कोई विकल्प नहीं है। तुम जब ये कहते भी हो कि, “मात्र खेल भर रहा हूँ, इसमें कुछ रखा नहीं है, वो भी खेल का हिस्सा है।” तुम सब कुछ त्याग दो तो भी तुम खेल के भीतर ही रहोगे।

क्रिकेट का मैदान देखा है न? कोई बहुत ज़ोर से दौड़ रहा है और एक विकेट-कीपर होता है वो लगातार एक जगह

खड़ा होता है। दोनों खेल के भीतर ही हैं। तुम दौड़ रहे हो उस खेल में, तुम्हारा एक रोल (भूमिका) रहेगा। तुमने दौड़ना छोड़ दिया है, उस खेल में तुम्हारा...?

प्र: दूसरा *रोल*।

आचार्य: पर हो अभी भी तुम खेल के भीतर ही। तो ये नहीं करना है कि खेलना छोड़ दिया और ये भी नहीं करना है कि भूल गए कि ये खेल है, उसी को हक़ीक़त मान लिया।

प्र: जो इसमें कबीर कह रहे हैं, वो निंदा क्या इसका मतलब अक्षरशः मतलब जो कार्य है शायद उसकी नहीं होगी। जैसे हम किसी को डाँट रहे हैं, राबिया ने डाँटा हसन को, तो हमें वो निंदा लगती है क्योंकि हम पहले से उस कार्य को, उस अक्षरशः को, उस शारीरिक हाव-भाव को निंदा कह रहे हैं।

आचार्य: बढ़िया है। अब दो बातें हैं यहाँ पर। फिर निंदा के दो प्रकार निकलते हैं, इनको हम बिलकुल ठीक-ठीक समझेंगे।

एक निंदा होती है, जिसमें हम सामने वाले के पूरे अस्तित्व को निंदनीय बना देते हैं। जहाँ हम कहते हैं कि, “तू ओछा है, छोटा है, निकृष्ठ है।” इस निंदा में हम भूल ही गए हैं कि वो जो 'तू' है वो है क्या। और एक दूसरी निंदा भी होती है, जो राबिया हसन की करती है। ये निंदा कहती है, “तू पूरा है, तू वही है जो मैं हूँ, तू भूल गया है।”

पहली निंदा गिराती है। पहली निंदा एक पहचान बनाती है कि, "मैं छोटा, कुपात्र, असमर्थ हूँ।" दूसरी निंदा उठाती है। दूसरी निंदा आपको अहसास कराती है कि आप वो हैं नहीं जो आपको होना था। पहली निंदा ये बिलकुल नहीं कहती कि तुम वो नहीं हो, जो तुम्हें होना था। पहली निंदा कहती है, तुम वही हो जो तुम्हें होना था, तुम्हें कीचड़ ही होना था। तुम कीचड़ ही हो। और इन दोनों स्थितियों में अंतर करना बिलकुल समझिएगा।

जब निंदा सुनने को मिले तो ज़रा ध्यान से देखिएगा कि निंदक कह क्या रहा है। निंदक यदि आपसे ये कह रहा है कि,

“तुम तो हो ही नालायक, ओछे, गंदे, तो बचिए उससे। या, यदि वो आपके करीब भी है, तो उसको बस एक उपाय की तरह देखिए। जैसा हमने कहा थोड़ी देर पहले कि कुछ तो होगा मुझमें जिसको देख कर ये कुछ तो बोल रहा है। बिलकुल ही कुछ ना होता तो कुछ ना बोल पाता।

और जो दूसरी निंदा हो, उसको साफ़-साफ़ समझिए। वो एक प्रकार की पुकार होती है। वो कहती है, “कोई खोट कहाँ तुम में, इसके अलावा कि बेहोश हो? कुछ गड़बड़ कहाँ तुम में, इसके अलावा कि जो हो, उसके अतिरिक्त कुछ और माने बैठे हो?” इन दोनों का भेद ठीक-ठीक समझिएगा क्योंकि रोज़मर्रा के जीवन में स्थितियाँ आएँगी, जब निंदा सुननी भी पड़ेगी और निंदा करनी भी पड़ेगी।

यही बात तारीफ़ पर भी लागू होती है। आप ध्यान देंगे तो समझ जाएँगे कि वहाँ पर कैसे लागू होती है। पर हम निंदा की ही बात कर लें पहले। ठीक है, कोई कुछ ऐसा कर रहा है जो बिलकुल पतित सा है, कोई कुछ ऐसा कर रहा है जो उसके लिए और बहुत और लोगों के लिए दुःख का कारण बनेगा। अब धर्म है आपका कि इस स्थिति में आप कुछ करें, आपको करना पड़ेगा। यही करुणा है, यही प्रेम है।

कोई भ्रम में जी रहा है, फ़र्ज़ है आपका कि आप कुछ करें, उसके भ्रमों को तोड़ें। पर देखें कि उसके भ्रमों को तोड़ने में आपकी मानसिकता क्या हो रही है। आप उसको क्या कह कर के जगा रहे हो?

ठीक है, आप मारो उसे डंडा, पर डंडा मारते वक़्त आप क्या कह रहे हो उससे? कि, “तू नालायक है!" या ये कि, "तू तो बहुत ही लायक है और मुझे अफ़सोस ये कि लायक होते हुए भी नालायकी कैसे कर गया? तेरी नालायकी इसी में है कि तू लायक होते हुए भी नालायकी कर गया।” ये दोनों बहुत अलग-अलग दृष्टियाँ हैं। डंडा दोनों में पड़ रहा है, पर डंडा मारने वाले की दृष्टि बहुत अलग-अलग है।

एक दृष्टि प्रेम की है, दूसरी दृष्टि घृणा की है। एक दृष्टि उठा देगी और दूसरी उसे बिलकुल गिरा देगी। चोट डंडे की बराबर ही लगेगी। सच तो ये है कि जिन कबीर ने ये बात कही है, वो निंदा करने में बिलकुल सिरमौर थे। कबीर ने जितने डंडे बरसाए हैं, उतने किसी संत ने ना बरसाए होंगे। तेल पिला-पिला कर डंडे मारे हैं और बड़ी गहरी चोट है कबीर की। जब पड़ती है तो तिलमिला जाए आदमी।

लेकिन, जिसको कबीर का डंडा पड़ गया, उसका सौभाग्य है। ऐसा है कबीर का डंडा कि लगे तो कायाकल्प कर दे, क्योंकि घृणा में नहीं मार रहे हैं कबीर। अफ़सोस है कबीर को, इसीलिए मार रहे हैं डंडा। करुणा है कबीर के मन में, दुखी भी हो जाते हैं हमारी स्थिति देख कर।

"सुखिया सब संसार है, खावे और सोये। दुखिया दास कबीर है, जागे और रोये।।" आप सोये पड़े होते हैं, कबीर आपके बीच बैठ कर जगे हुए हैं और रो रहे हैं। उस दुःख से, उस करुणा से, वहाँ से करते हैं निंदा। निंदा करिए तो वैसी करिए। फिर उस निंदा में बड़ी ज़िम्मेदारी होती है। फिर आप निंदा करके पीछे नहीं हट सकते।

कबीर गोरिल्ला लड़ाई नहीं लड़ते थे कि दो दोहे मारे, किसी को परेशान किया और फिर कहीं जा कर दुबक गए। फिर वहाँ पूरी ज़िम्मेदारी है। "अगर कह रहा हूँ कि तूने ग़लत किया, कि तू बेहोश है, कि तू पगला है, अगर कह रहा हूँ ये, तो फिर मैं ज़िम्मेदारी लेने को भी तैयार हूँ कि तू साथ चलेगा, तो मैं साथ नहीं छोड़ूँगा। इतना ही नहीं, तू जब चलने को नहीं भी तैयार होगा तो मैं तुझे घसीट कर ले चलूँगा, यथाशक्ति, जहाँ शक्ति ही नहीं बची फिर तो क्या कर सकता हूँ? पर देने वाला जब तक ताक़त दिए जाएगा, मैं पीछे नहीं हटूँगा।"

निंदा करना बड़ी ज़िम्मेदारी है क्योंकि निंदा, वास्तविक निंदा, प्रेम है। निंदा, प्रेम जितनी ही बड़ी ज़िम्मेदारी है। बिलकुल पीछे मत हटिए, जस-का-तस कहिए, दूध-का-दूध—पानी-का-पानी कहिए, बेशक कहिए लेकिन चोट पहुँचा कर भाग मत जाईए। फिर खड़े रहिए कि, "हाँ, गंदगी साफ़ की मैंने और उस गंदगी साफ़ करने की प्रक्रिया में तुझे चोट लगी है, मलहम भी मैं ही लगाऊँगा। कुछ बोल दिया ऐसा मैंने तुझे, जिससे तेरी नींदें उड़ गई हैं, मैं साथ जगूँगा।" ये प्रेम है। ये निंदा अब निंदा नहीं है, अब ये एक उपाय बन गई है। ये जागृति का उपाय बन गई है। अब नहीं आ करके कबीर आप से कहेंगे कि निंदक तो है नाक बिन, अब नहीं कबीर कह रहे आपसे।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2014)

जहाँ लालच वहाँ ग़ुलामी

आचार्य प्रशांत: बाहर जो कुछ भी है, वो तो एफ़र्ट (प्रयास) माँगेगा-ही-माँगेगा। 'एफ़र्टलेसनेस ' कहाँ होती है?

प्रश्नकर्ता: मन में।

आचार्य: वहाँ एफ़र्टलेसनेस रहे, वहाँ पर अनावश्यक संघर्ष ना रहे। मानसिक एफ़र्ट का मतलब होता है, बहुत सारी बातें जो सोच रहे हैं, बहुत सारे विकल्प हैं जो सामने आ रहे हैं, और आप उनमें उलझे हुए हैं। बाहर तो अगर आप एक शब्द भी बोलेंगे, तो उसमें एफ़र्ट लगेगा-ही-लगेगा। एक शब्द भी अगर बोला जाता है तो उसमें भी कुछ ऊर्जा लगती है। बाहर की दुनिया में हमारे काम किस लिए होते हैं? जिसका मन अशांत है, वो बाहर बस पाना चाहता है। जिसका मन अशांत है, वो बाहर जो भी एफ़र्ट करता है, वो बस पाने के लिए होता है।

शिव सूत्र में 'उदयमो भैरव:' का अर्थ है कि जब मन शांत है, मन एफ़र्टलेस है, तब बाहर पाने जैसी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है कि बाहर कुछ पाना-ही-पाना है। वो आवश्यकता ख़त्म हो जाती है कि बाहर कुछ पाना-ही-पाना है। और फ़िर बाहर जो कुछ होता है, वो अगर होता है तो इसलिए कि गन्दगी है, साफ़ कर दो; संचय नहीं कर लो, साफ़ कर दो। कुछ पाना नहीं है जीवन में, पाने लायक जो है वो पहले ही है। पाने लायक जो है वो पहले ही है जीवन में। अधिक-से-अधिक सफ़ाई करनी है।

इस बात को समझिए, जिसका मन शांत नहीं है, वो एफ़र्ट करता है पाने के लिए, हमारे जो भी एफ़र्टस होते हैं, वो पाने के लिए एफ़र्टस होते हैं – 'कुछ पा लूँ'। और जिसका मन शांत हो गया उसके एफ़र्टस होते हैं कि, "जो पाया ही हुआ है, जो इक्कठा किया हुआ है, वो हट किस प्रकार जाए?"

वो पाने के लिए काम नहीं करता है, वो सफ़ाई के लिए काम करता है। उसको पाने में कोई रस नहीं रह जाता है। विचारों को ऊर्जा भी देना एक अशांत मन का ही काम है। स्टिम्युलस (प्रोत्साहन) अगर ताक़तवर हो तो वो आपके भीतर एक विचार उठा सकता है, ठीक है, पर वो विचार गति तभी पकड़ेगा जब आपका मन पहले ही तैयार है उसको वो ज़मीन देने के लिए। बीज ज़मीन पर कहीं बाहर से डल सकता है, पर वो बीज पेड़ तभी बनेगा जब ज़मीन तैयार हो उस बीज को अपनाने के लिए, खाद देने के लिए, पानी देने के लिए।

यह तो जानी हुई बात है कि विचार का जो बीज होता है, जो स्टिम्युलस होता है, वो तो बाहर से ही आता है, बहुत पक्की बात है। आप ने अभी कुछ सुना, उसके फल स्वरूप कोई विचार पैदा हो जाएगा, या इस टी.वी. स्क्रीन पर देखें तो उसके कारण कोई विचार पैदा हो जाएगा। वो बीज है, वो इनिशियल स्टिम्युलस है जिसके कारण विचार सक्रिय होता है। स्टिम्युलस आते रहेंगे, यदि हम दुनिया में हैं, चारों तरफ से स्टिम्युलस आ ही रहे हैं, हालाँकि उस स्टिम्युलस पर भी जितना काम करा जा सकता है, जितना उसको साफ़ रखा जाए, उतना अच्छा होता है।

लेकिन वो नहीं पनपेगा, स्टिम्युलस बीज से पेड़ नहीं बनेगा अगर आपके दिमाग में पहले ही उसके लिए पोषण मौजूद नहीं है। दिमाग में खुराफ़ात मौजूद है तो छोटे-से-छोटा बीज भी पेड़ बन जाएगा। हम खुद विचारों को ऊर्जा देते हैं। जैसे कि, मैं एक बात कह रहा हूँ, किसी के कान में पड़ती है, पड़ कर निकल जाएगी, कहेगा, "ठीक है, हो गया", दूसरे के कान में पड़ेगी तो एक पूरी कहानी बन जाएगी।

एक ही बात एक आदमी के कान में पड़ेगी तो वो बस बात बन कर रह जाएगी, दूसरे के कान में वो पूरी कहानी और कहानी पर कहानी पर कहानी पर कहानी बनेगी। यह दिमाग का अंतर है कि आपकी जो मूल वृत्तियाँ हैं, वो कैसी हैं, उनकी सफ़ाई हुई है या नहीं। हाँ, यहाँ पर लगेगा एफ़र्ट , यहाँ लगेगा। जिसके दिमाग का पूरा हिसाब-किताब ही ऐसा हो गया है कि उसमें खूब इकट्ठा हो गया है, उसको एफ़र्ट करना पड़ेगा उसको साफ़ करने के लिए, और जम कर एफ़र्ट लगेगा। जब जम कर इकट्ठा करा है तो सफ़ाई में जम कर एफ़र्ट भी लगेगा। उसमें थोड़ा सा दर्द भी हो सकता है।

प्र१: वो चीज़ होगी-ही-होगी, अपमानित महसूस करना आपका चुनाव होता है।

आचार्य: हाँ, और क्या। अर्नेस्ट हेमिंग्वे के इसीलिए इतने प्रसिद्ध शब्द हैं: 'पेन इज इनएविटेबल, सफ्फेरिंग इज ऑप्शनल ', (दर्द अपरिहार्य है, पीड़ा वैकल्पिक है) पीड़ा तो संसार में होने का हिस्सा है। आप यहाँ बैठे हो, शरीर बहुत बेहतर महसूस करेगा अगर यहाँ एयर कंडीशनर भी हो। अभी कई लोगों के थोड़ा पसीना छलक आया होगा, एयर कंडीशनर चल रहा हो तो नहीं होता। लेकिन वो आपको प्रभावित करे यह ज़रूरी नहीं है।

इसी रूम में बैठे हुए दो अलग-अलग लोग हो सकते हैं – एक जिसको उस छलके पसीने के कारण बार-बार यह ख्याल आए, "मुझे असुविधाजनक महसूस हो रहा है" और दस बातें और ख्याल में आ जाएँ। पसीने से आपको कोई और स्थिति याद आ सकती है। आपको पसीना था – वो विचार आपको कहीं और ले जा सकता है, वो कहीं और ले जा सकता है, जैसे मैं कह रहा था, कहानी पर कहानी पर कहानी पर कहानी खड़ी हो सकती है।

और एक दूसरा आदमी होगा उसको भी शायद उतना ही पसीना आ रहा होगा क्योंकि शरीर एक से ही हैं लेकिन उसके मन में कोई कहानी आगे नहीं बढ़ रही है। और यह काम संयोगवश नहीं होता कि यह तो रैंडमनेस है कि एक आदमी कितना सोच गया और दूसरा नहीं सोच पाया।

इस दूसरे आदमी ने सावधानी पूर्वक दो काम किए हैं:

१. कचरा इकट्ठा होने दिया नहीं है, या परिस्थितियाँ अनुकूल रही हैं जिसके कारण कम कचरा इकट्ठा हुआ है।

२. इसने सफ़ाई जमकर करी है।

उस सफ़ाई का ही परिणाम होता है जो हमारी रोज़ाना की ज़िंदगी होती है। आपका मन कैसा है उसका सूचक आपकी रोज़ाना की ज़िंदगी ही है। आप यहाँ बैठे हो और मन कहीं उड़ गया तो बस यही दिखाता है कि मन कैसा है, आपने पूरा जीवन कैसे जीया है। यह जानना है अगर कि कोई कैसा है, उसका पूरा इतिहास ही क्या है, क्योंकि जब आप कहते हैं कि कोई कैसा है तो उसके इतिहास की ही बात कर रहे होते हो, उसका मन कैसा है? मन इतिहास से ही निकल कर आ रहा है।

सब कुछ जान जाएँगे, ‘आदमी एक खुली किताब है’ कहा जाता है, उसका अर्थ यही होता है। उसकी एक हरकत देखो और सब बता सकते हो। उसका जो हार्डवेयर है, पूरा पता चल जाएगा कि कैसा है, क्या है।

अगर आपको कोई शांत दिखता है तो यह संयोग की घटना नहीं है, यह साधना से निकली हुई बात है। उसने काम करा है, उसने मेहनत करी है अपने ऊपर, शांति ऐसे नहीं टपक पड़ती। या फ़िर वो ज़बरदस्त रूप से सौभाग्यशाली रहा है कि उसकी कंडीशनिंग हुई ही नहीं। इन दोनों में से एक ही चीज़ हो सकती है। या तो उसको ऐसा वातावरण मिल गया है जहाँ उस पर धब्बे लगे ही नहीं या उसने ज़बरदस्त सफ़ाई करी है अपनी।

पहली बात की संभावना नगण्य है। ऐसा होता ही नहीं कि आप पर धब्बे ना लगें। संसार का मतलब ही है धब्बे, तो कंडीशनिंग तो होगी, हमेशा होगी।

प्र२: सर जब हम छात्रों से बात करते हैं तो बहुत सारे छात्र ऐसा क्यों कहते हैं कि उनके माँ-बाप और मित्र बहुत ज़्यादा सपोर्टिव हैं? वो देख नहीं पाते हैं कि उनकी कंडीशनिंग की गई है। वो सारे तर्क देते हैं कि उन्होंने हमारी फ़ीस दी है, हमारी पढ़ाई कराई है, और हमने जो दोस्त बनाए, वो भी अच्छे हैं।

आचार्य: जब यह स्थिति आ जाए जहाँ पर यह समझ में ही ना आए कि, "मैं इन्फ़्लुएनस्ड हूँ", वहाँ पर उनको थोड़ा रोक कर के, पाँच मिनट बताना पड़ेगा कि तुम कंडिशन्ड , इन्फ़्लुएनस्ड सिर्फ़ तभी नहीं हो जब कोई ज़ोर से दिखा करके, चिल्ला कर के तुमको गुलाम बनाए।

अब यह जो पंखा है, यह अपना बड़ा दोस्त है, इसका उदाहरण सब बता देता है। दो तरह से किसी से काम कराया जा सकता है। अगर मैं अभी तुमसे कहूँ कि यहाँ पर वैसे ही नाचो, गोल-गोल घूमो जैसे यह पंखा घूम रहा है, तो तुम कहोगे, "मुझसे ज़बरदस्ती करवाई जा रही है!" क्योंकि स्पष्ट दिख रहा है कि मैं तुमसे कुछ करवाना चाहता हूँ, कोई बाहरी प्रभाव है जो तुमसे काम करा रहा है।

लेकिन एक दूसरा तरीका है, वो यह है कि मैं तुमको पंखा ही बना दूँ। मैं तुमसे यह ना कहूँ कि पंखे की तरह घूमो, मैं तुमको पंखा बना ही दूँ। मैं तुम्हारे दिमाग में ऐसी ही एक मोटर फ़िट कर दूँ। मैं तुमको पंखा ही बना दूँ, तुम्हारे दिमाग में एक मोटर ही फ़िट कर दूँ, जैसे इस पंखे के दिमाग में लगी है और फ़िर तुमको लगेगा कि गोल-गोल घूमना दुनिया का सबसे स्वाभाविक काम है, इसके अलावा और है ही क्या दुनिया में? बटन दबेगा नहीं और तुम घूमना शुरू कर दोगे।

यह बड़ी खौफ़नाक चीज़ होती है। तो उसको समझाना पड़ेगा कि, "देखो जब बात दिखती है कि अधिरोपित है, थोपी गई है, तो हम सब विद्रोह करना चाहते हैं, पर अगर कंडीशनिंग इतनी सूक्ष्म हो कि वो पता ही ना चले कि कंडीशनिंग है, तो आप उससे विद्रोह भी नहीं कर पाते। विद्रोह का सवाल भी तो तब पैदा होता है न जब कुछ बचा रहे विद्रोह करने के लिए। किसी पंखे को आज तक विद्रोह करते हुए देखा है? “मैं गोल-गोल नहीं घूमूँगा, मुझे सीधी चाल चलनी है”? देखा है क्या? जब कंडीशनिंग इतनी पूरी हो जाए, इतनी कम्पलीट हो जाए कि कोई बचे ही ना जानने वाला कि वो कंडिशन्ड है, तो वहाँ बड़ी दिक्कत होनी है।

सौभाग्य से हमारे साथ कभी ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि हम में हमेशा वो बचा रहेगा जो जान सकता है कि हम कंडिशन्ड हैं, उसी का नाम इंटेलिजेंस है, उसी का नाम आब्ज़र्वर है। तो ध्यान से देखोगे तो दिख जाएगा, फ़िर उनको उदाहरण देने पड़ेंगे दस तरीके के, वो उदाहरण हमें पता होने चाहिए।

एक आदमी ने दूसरे से पूछा “स्कर्ट पहनना पसंद करोगे?” दूसरा बोला “नहीं”। पहले ने कहा, “दुनिया में ऐसे देश हैं जहाँ पर अच्छे-अच्छे मर्द स्कर्ट पहनते हैं, और यह फक्र की बात होती है कि हमने स्कर्ट पहन रखी है।” तुमको अभी स्कर्ट पहनने को कह दिया जाए तो यह तुम्हारे लिए बड़ी शर्मिंदिगी की बात हो जाएगी कि, "हम को स्कर्ट पहना कर घुमा दिया!" पर वहाँ स्कर्ट पहन कर घूम रहे हैं।

इस बात को समझो न, तुम जब छोटे से थे, तभी से तुम देख रहे हो कि तुम्हारी बहन को स्कर्ट पहनाई जा रही है और तुम पैंट पहन रहे हो और यह एक स्वाभाविक बात की तरह तुम्हारे मन में प्रवेश कराई गई है। तुमको यह लगा ही नहीं कि तुम्हारे साथ ज़बरदस्ती की जा रही है, तुमको यह ही लगा कि ऐसा तो होता ही है। जैसे सूरज बड़ा और चाँद छोटा होता है, ठीक वैसे ही लड़की स्कर्ट और लड़का पैंट पहनता है। तुमको लगा, यह तो दुनिया का कोई नियम ही है, कोई मूल-भूत बात है। इसमें मूल-भूत बात कुछ नहीं है। धीरे-धीरे तुम्हारे दिमाग में इसको भर दिया गया था।

प्र२: सबसे घटिया यहाँ पर सवाल होता है, “ज़बरदस्ती किया था तो क्या स्कर्ट पहनना शुरू कर दें?” मतलब बात कुछ और कही जा रही होती है मगर...

आचार्य: तो इसका जवाब यही है कि हाँ तुम पहनना शुरू भी कर दोगे, क्योंकि जो आदमी दूसरों के कहने पर पैंट डाल सकता है, वो किसी और के कहने पर स्कर्ट भी डाल सकता है। लेकिन तुम चाहे पैंट पहनो या चाहे स्कर्ट, रहोगे फ़िर भी नंगे ही, क्योंकि ना तुमने पैंट अपनी मर्ज़ी से पहनी थी, अपनी समझ से पहनी थी, ना तुमने स्कर्ट अपनी समझ से पहनी है।

आओ चलो पैंट को समझते हैं। बताओ मुझे कि यह आदमी का शरीर है, यह उसकी शरीर-रचना है, मुझे बताओ, पैंट जैसी चीज़ क्यों होनी चाहिए? और दुनिया भर में हज़ार और आवरण होते हैं जो पहने जा सकते हैं कमर से नीचे, हम वो क्यों नहीं पहन सकते? पैंट ही क्यों?

अच्छा बताओ यह जो शर्ट है, इसके नीचे पैजामा क्यों नहीं पहन सकते? अच्छा हँसो मत, अभी तुम सोच रहे हो, तुमको अजीब सा लग रहा है कि शर्ट के नीचे पैजामा अजीब लगेगा। तुम्हें अजीब ही इसलिए लग रहा है क्योंकि तुमने किसी को पहने देखा नहीं। अगर कोई ऐसा देश हो जहाँ लोग बचपन से ही शर्ट के साथ पैजामा पहनते हों तो तुमको बहुत स्वाभाविक सी बात लगेगी कि शर्ट के साथ पैजामा।

अब दक्षिण भारत में शर्ट के नीचे पैंट कम पहनी जाती है और लुंगी ज़्यादा। अब यह तुम्हारे लिए अजीब सी बात हो गई कि यह अच्छी फॉर्मल शर्ट के नीचे कोई पैंट की जगह लुंगी कैसे पहन सकता है?

प्र३: स्कॉटलैंड में बहुत प्राइड के साथ, फ़क्र के साथ, स्कर्ट पहनते हैं, उनकी राष्ट्रीय ड्रेस है।

आचार्य: समझ रहे हो? तो सिर्फ़ यही चीज़ कि कपड़े कितने तरीके के होते हैं, उसको तुम देखोगे तो तुम हैरान रह जाओगे। तुमने कभी यह सोचने की कोशिश करी कि शर्ट का यही रूप क्यों होना चाहिए? और तुम उसको पहने

जाते हो, पहने जाते हो।

दो-चार लोगों को यूँ ही उठा कर पूछो कि तुमने कभी यह जानना चाहा कि शर्ट में कॉलर होना ही क्यों चाहिए? पर हमको यह लगता है कि बहुत प्राकृतिक सी बात है। उसमे प्राकृतिक कुछ नहीं है, तुमको सिर्फ़ आदत लग गई है। और सोचो अगर ऐसी चीज़ में आदत लग सकती है जो तुम्हारे ठीक सामने है, जिसपर तुम कभी भी सवाल उठा सकते हो, तो उन चीज़ों की आदत कितनी ज़्यादा लगेगी जिन पर सवाल उठाना ही मना है?

तुम बचपन से ही मुक्त थे, तुम किसी से कभी भी कह सकते थे कि, "शर्ट में कॉलर नहीं चाहिए, मुझे बिना कॉलर की शर्ट बना करके दो", पर तुमने कभी कहा नहीं। और भारत में कॉलर जो है, वो एक बहुत न्यूसेंस चीज़ ही है। आपको कॉलर चाहिए नहीं पर आप फ़िर भी कॉलर पहन रहे हो। एक गर्म देश में, एक उमस वाले देश में, कॉलर सिर्फ़ आपको परेशान करेगा, और पसीना जमा होगा यहाँ गर्दन पर। कॉलर से इतना ही होने वाला है। आपको कोई फायदा नहीं दे सकता है *कॉलर*। ठंडे देशों में वो आपको बचाएगा। गर्म देशों में उससे आपको खुजली और पैदा हो जाएगी गर्दन के पीछे और कुपित और महसूस करोगे कि हर समय कॉलर लगा हुआ है एक।

लेकिन आप सवाल नहीं करते, जबकि कोई इसमें धार्मिक बात भी नहीं है। इसमें कोई बड़ा विद्रोह नहीं करना है। तो सोचो जिन बातों में विद्रोह करना है, वहाँ तो तुम सवाल बिलकुल ही नहीं कर पाओगे। जहाँ सवाल करना इतना आसान था, वहाँ भी नहीं कर पाए क्योंकि वो बात बहुत सामान्य लगने लग गई, तो जहाँ बात धार्मिक किस्म की हो, थोड़ा सेंसिटिव (संवेदनशील) किस्म की हो, तो वहाँ पर कैसे सवाल उठा पाए होगे, नहीं उठा पाए होगे न?

तो जब तुम कहते हो, “नहीं सब सपोर्टिव हैं”, तो तुम बस इतना ही कह रहे हो कि तुम्हारी और उनकी सोच एक सी है। जब तुम कहते हो “मेरे दोस्त सपोर्टिव रहे हैं” उस ‘सपोर्टिव ’ से अर्थ तुम्हारा बस इतना है कि वो भी वही सोचते हैं जो तुम सोचते हो और इसी को कबीर ने कहा है “अँधा अँधे ठा लिया।” एक अँधा दूसरे अँधे को सपोर्ट कर रहा है, अब यह सपोर्ट है या क्या है? वो भी कंडिशन्ड , तुम भी कंडिशन्ड , तुम्हारे आपसी सपोर्ट का कोई अर्थ बनता है? यह सपोर्ट तो नहीं हो सकता न?

अगर एक चूहेदानी हो, उसमें चार चूहे हों, तो वो आपस में एक दूसरे को क्या सपोर्ट करते होंगे? क्या कर सकते हैं सपोर्ट ? और बंद हैं, हमेशा से बंद हैं, क्या सपोर्ट करेंगे एक दूसरे को? उनको सपोर्ट भी तो कोई ऐसा ही करेगा न

जो उनसे थोड़ा अलग हो, जो उनकी दुनिया से बाहर का हो।

उनकी दुनिया बस इतनी सी है, उनको अगर उससे बाहर भी निकलना है, अपनी चूहेदानी से, उनको अगर बाहर भी निकलना है तो उनको कोई बाहर वाला चाहिए और बाहर वाले से उनका कोई परिचय ही नहीं है क्योंकि उनको तो बस वो चार लोग पता हैं जो उनके पिंजरे के ही अंदर हैं। अब पिंजरे के अंदर के चार चूहे कुछ भी कर लें, क्रांति नहीं कर सकते। यूनियनबाज़ी कर सकते है। नारे लगा सकते हैं, पर पिंजरे से बाहर तो नहीं आ पाएँगे? कितना भी ज़ोर लगा लें अंदर के चार चूहे, मिलकर के पिंजरे से बाहर तो नहीं आ पाएँगे।

प्र२: सर उनके लिए तो वह पिंजरे से बाहर ही हैं।

आचार्य: ठीक। उनके लिए वो पिंजरे से बाहर ही हैं, बस यही है। और यही कारण है कि वो सदा अंदर रहेंगे। जो अंदर होते हैं वो यह मान लें कि “मैं बाहर हूँ”, उनकी सम्भावना बड़ी कम हो जाती है बाहर आने की। इसीलिए यह जो पूरा आत्म-बोध का आयोजन है, यह हमेशा से कुछ लोगों के लिए ही रहा है जिन्हें सबसे पहले यह दिखाई दे जाए कि वो चूहे हैं जो बंद हैं। जिनको अभी यही भ्रम हो कि वो तो मुक्त हैं, उनकी मुक्ति नहीं हो सकती।

तो बहुत हमब्लिंग चीज़ है। पहले तो यह देखना पड़ता है साफ़-साफ और उस पीड़ा से गुज़रना होता है कि “मैं चूहा हूँ और मैं पिंजरे में बंद हूँ”, उसके बाद ही उस पिंजरे से बाहर आने का कोई रास्ता सम्भव हो पाता है। यह काम कष्ट देता है, अहंकार को चोट लगती है।

कृष्णमूर्ति जब कहते हैं न “फर्स्ट स्टेप इज़ द लास्ट स्टेप ” (पहला कदम ही आखिरी कदम है), पहला ही कदम अगर ले लिया ठीक-ठीक, “मैं चूहा हूँ, जो पिंजरे में बंद है”, तो अब लास्ट स्टेप दूर नहीं है। उसी को “फर्स्ट एंड दा लास्ट फ्रीडम ” (पहली और आखिरी आज़ादी) भी बोलते हैं। बहुत आज़ादी चाहिए यह बशर्त कहने के लिए कि, "मैं एक चूहा हूँ जो बंद है।"

“आई ऍम ए रैट इन अ ट्रैप”, वन्स यू हैव सीन इट, इट्स ए वैरी हमब्लिंग थिंग ”। दिमाग भन्ना जाएगा और मन यही

करेगा कि इस बात को ठुकरा दो, स्वीकार ही मत करो। “मैं स्वीकार ना करूँ तो शायद मैं चूहा ही ना रहूँ?”, मन का विशेष तर्क है यह, “मैं अगर स्वीकार ही ना करूँ तो मैं चूहा ही नहीं रहूँगा।” बड़ी ईमानदारी चाहिए होती है, बड़ी मज़बूती चाहिए होती है, यह स्वीकार करने के लिए, “मैं चूहा हूँ और मैं बंद हूँ।” देयर इज़ दा फर्स्ट फ्रीडम, एंड देन दा लास्ट फ्रीडम इज़ नॉट फार अवे, इन्फेक्ट इट्स वैरी क्लोज़ (आरम्भिक आज़ादी जब आती है, तो अंतिम ज़्यादा दूर नहीं होती, बल्कि वो बहुत पास होती है)।

प्र२: सर, अगर चूहे को पता भी चल गया कि वो पिंजरे में है, और वो बाहर निकलने की कोशिश करे तो उसके ऊपर बहुत सारी बेट (प्रलोभन) फेंकी जाती हैं अंदर से, ताकि वो कभी बाहर निकल ही ना पाए।

आचार्य: समझो तो, अंदर वाले चूहे किसको बेट फेंक रहे हैं? एक चूहे को।

प्र४: हाँ, चूहे को।

आचार्य: उस बेट से आकर्षित कौन होगा?

प्र४: आकर्षित होना तो हमारे हाथ में ही होगा।

आचार्य: चूहा ही तो आकर्षित होगा।

प्र४: हाँ, चूहा ही होगा।

आचार्य: और अगर तुम जान जाओ कि तुम चूहे तो हो नहीं, तो वो बेट तुम्हें आकर्षित करेगी?

प्र४: नहीं, बिलकुल नहीं।

आचार्य: वो बेट भी तुम्हें तब तक आकर्षित कर रही है, जब तक तुमने अपने आप को चूहा बना रखा है।

प्र३: वैसे जो चूहे ट्रैप्ड (बंदी) हैं, वो सब अगर मिल कर कोशिश करें तो वह बाहर निकल सकते हैं।

आचार्य: नहीं, बिलकुल भी नहीं, बिलकुल भी नहीं। इसको समझिएगा ज़रा, जो चूहा है, जो ट्रैप (जाल) है, जो बेट है, उसको समझिए क्या है पूरा मामला। आप अंदर बंद ही तभी तक हो जब तक आपने अपने आप को चूहा मान रखा है, क्योंकि वो जो ट्रैप है वो सिर्फ़ चूहों को क़ैद कर सकता है। वो जो ट्रैप है, जो पिंजड़ा है, जो चूहेदान है, वो सिर्फ़ चूहों को ही फँसाने के लिए बनी है, वो सिर्फ़ चूहों को ही फँसाने के लिए बनी है। उसमें आपको फँसाए रखने के लिए आपको जितने लालच दिए जा रहे हैं वो सारे लालच सिर्फ़ चूहों को आकर्षित कर सकते हैं। जिस क्षण आपने पहचान लिया कि, "मैं कौन हूँ, चूहा होना मेरा स्वभाव नहीं", उस क्षण वो बेट आपको आकर्षित ही नहीं करेगा।

प्र२: बेट कुछ और हो, बेट यह हो कि “तुम बाहर निकलो, मैं सुसाइड (आत्महत्या) कर लूँगा। मैं मज़ाक नहीं कर रहा!”

आचार्य: हाँ, बिलकुल समझ रहा हूँ, पर यह जो बात है यह किस को रोक सकती है?

प्र३: जो उसके जैसा ही हो।

आचार्य: याद रखना कि यह जो द्वैत के दो सिरे होते हैं, दिखते विपरीत हैं, होते एक हैं। धमकाने वाला और धमक जाने वाले में कोई बहुत अंतर नहीं हो सकता। यह विपरीत दिख रहे हैं पर एक ही हैं। डराने वाले और डर जाने वाले में कोई विशेष अंतर नहीं होता है।

एक आदमी हिंसा करने आता है, आप डर जाते हो। हिंसा जो कर रहा है, लगता है कि वो अपराधी है और जो डर रहा है, वो बेचारा है। जबकि सच यह है कि डर जब बाहर की ओर बहता है तो हिंसा के रूप में दिखाई देता है और हिंसा जब अपने ही मन पर छा जाती है तो वो डर के रूप में दिखाई देती है।

आप डरे हो, यही डर अगर बाहर की ओर चैनलाइज़ हो जाए तो हिंसा का रूप ले लेगा, और आपकी ही हिंसा जब आपके ही मन को सताने लग जाए तो वह डर कहलाती है। हिंसा और डर एक ही चीज़ हैं।

इसी तरीके से धमकाने वाला और उस धमकी से डर जाने वाला बिलकुल एक ही मिट्टी के बने हुए हैं। उनका एक्सप्रेशन बस अलग-अलग है। एक अभी धमका रहा है, एक धमक जा रहा है, थोड़ी देर में वो किरदार बदल भी लेंगे, कोई बड़ी बात नहीं है।

बात यह नहीं है कि मैं द्वैत के एक सिरे से दूसरे पर कूद जाऊँ, बात यह है कि मैं दोनों सिरों के आगे कूद जाऊँ—वही बियॉन्डनेस है, उसी को ट्रानसेनडेंस कह रहे थे।

मुझे कोई कैसे डरा सकता है या लालच दे सकता है अगर मेरे मन में डरने के या लालच के बीज और उसके लिए ज़मीन मौजूद ही ना हो? कोई मुझे कैसे डरा पाएगा अगर डरने के लिए मैं तैयार ही ना हूँ, उत्सुक ना हूँ? कोई मुझे लालच कैसे दे पाएगा अगर मैं लालची नहीं हूँ? आप बताइए कोई मुझे लालच दे कैसे पाएगा अगर मैं लालची नहीं हूँ?

हमें यह बहुत ध्यान से देखना होगा। इसको आप सूत्र की तरह जीवन में इस्तेमाल कर सकते हैं। जब भी कभी कोई बहुत हावी हो रहा हो आपके ऊपर, कोई परिस्तिथि, कोई व्यक्ति, या कुछ भी, कोई विचार, तो उससे लड़िए मत, अपने मन को तलाशिए, उसमें ऐसा क्या है जिसका उपयोग करके वो व्यक्ति आपको नचा रहा है? अगर कोई आप पर हावी हो रहा है तो अपने मन को तलाशिए कि उसमें ऐसा क्या है जिसका उपयोग करके वह व्यक्ति आपको नचा रहा है।

कोई बार-बार आपके ऊपर ऐसे फंदा डालता है और आपको फँसा लेता है, तो निश्चित रूप से कुछ हुक है आपके

पास जिनमें वो फंदा फँस जा रहा है। आप उन फंदों से लड़ेंगे या उन हुकों को ही हटा देना चाहेंगे?

प्र: (एक स्वर में) हुक।

आचार्य: अगर इस दीवार पर खूँटियाँ ना हों तो आप इस पर अपनी शर्ट टांगेंगे कैसे? अगर कोई बार-बार आ कर के इस दीवार पर अपने गंदे कपड़े टाँग जा रहा है तो इसका अर्थ क्या है? इस दीवार पर खूँटियाँ मौजूद हैं। अगर चाहते हो इस दीवार पर कोई आ कर अपने गंदे कपड़े ना टाँगे तो क्या करना होगा? लोगों से लड़ूँ? पूरी दुनिया से लड़ूँ? और खूँटियाँ मौजूद हों तो किसी को भी लालच हो सकता है, “लाओ यार टाँग ही दो, मस्त दीवार है, खूँटी है, लाओ इस पर टाँग ही दो।” खूँटियाँ मौजूद हैं तो कोई-न-कोई आ ही जाएगा गंदगी मचाने के लिए। दुनिया भर से लड़ूँ? नोटिस लगाऊँ: “गधे के पूत यहाँ न...” वाला? या खूँटियाँ ही हटा दूँ?

प्र३: खूँटियाँ ही हटा दूँ।

आचार्य: खूँटियाँ हटा दूँ न। हमारे पास वो सारी खूँटियाँ मौजूद हैं जिसका लोग इस्तेमाल कर रहे हैं। उनको हटा दीजिए, कोई आपका इस्तेमाल नहीं कर पाएगा। निश्चित रूप से आपको किसी बात का लालच होगा जिसका उपयोग करके कोई आप पर हावी होता है। निश्चित रूप से आपको कोई लालच है और वो सामने वाला जानता है कि आपको क्या लालच है। आप वो लालच हटा दीजिए, वो व्यक्ति आपके जीवन पर हावी नहीं हो पाएगा, कोई परिस्थिति हावी नहीं हो पाएगी, समाज में, संसार में, कोई बड़े-से-बड़ा आप पर हावी नहीं हो पाएगा।

हम जो बार-बार अपनी असमर्थता का रोना रोते हैं, वह कुछ नहीं है, हम एक बड़ा दोहरा खेल खेलना चाहते हैं। हम कहते हैं, "हमारा लालच भी बरक़रार रहे और हम गुलाम भी ना बनें।" यह अब नियमों के विपरीत बात कर रहे हैं आप। आप चाहते हैं आपका लालच भी बरक़रार रहे और आपको गुलाम भी ना बनना पड़े। जहाँ लालच है, वहाँ गुलामी है। जिसको गुलामी छोड़नी है, उसे लालच छोड़ना होगा। अगर आप बार-बार पा रहे हैं कि आप गुलाम बन जा रहे हैं, तो देखिए कि क्या-क्या लालच है, उस लालच को हटा दीजिए और गुलामी को हटा दिया आपने।

प्र२: तो वो जो खूँटी है, एक इंसान का बेटा, बेटी या पत्नी बन जा रहे हैं?

आचार्य: ना, ना, वो तो एक बाहरी चीज़ है। चलो पैदा हुए हो तो किसी के तो रिलेटिव (रिश्तेदार) कहलाओगे ही। बाहर अगर आपको एक नाम दे दिया गया तो कोई बड़ी बात नहीं हो गई। हम सब यहाँ अपना-अपना नाम तो ले कर बैठे ही हैं। नाम की उपयोगिता है, एक-दूसरे से बात करने में उस नाम के साथ क्या लालच जुड़ा हुआ है, वो देखो न, वहाँ कोई लालच जुड़ा है क्या?

प्र४: सर नाम तो बस एक रिकॉग्निशन (पहचान) बताता है।

आचार्य: हाँ, अगर वो सिर्फ़ रिकॉग्निशन बताए तो कोई दिक्कत नहीं होगी, फ़िर उसकी उपयोगिता बस है। पर उसके साथ कुछ और भी जुड़ गया है, क्या? "बेटा होना क्या है मेरे लिए? पिता की संपत्ति का वारिस होना तो नहीं है? पिता के घर में रहना तो नहीं है कहीं? पिता की सहूलियतों पर कब्ज़ा जमाना तो नहीं है कहीं? अगर बेटे होने का यह अर्थ है मेरे लिए तो अब पिता मुझ पर हावी हैं", इसमें ताज्जुब क्या है? हो कर रहेगा ऐसा। जिस बेटे की नज़र पिता द्वारा दी जा रही सहूलियतों पर हो, उस बेटे पर पिता हावी होगा ही। पिता का इसमें कोई कसूर नहीं, आपने खूँटियाँ तैयार कर रखी हैं कि “आओ और मुझ पर हावी हो जाओ।”

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2013)

जीवन गँवाने के डर से अक्सर हम जीते ही नहीं

जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ। मैं बपुरा डूबन डरा, रहा किनारे बैठ।।

~ संत कबीर

प्रश्नकर्ता: इस दोहे को जब मैं अपने जीवन के सन्दर्भ में देखती हूँ तो पाती हूँ कि मेरे सारे प्रयत्न जवाबों को ढूँढने की राह में कम ही पड़ते हैंI अपने प्रयासों को और बेहतर कैसे बनाऊँ?

आचार्य प्रशांत: क्या कह रहे हैं कबीर? कह रहे हैं, 'मैं बपुरा डूबन डरा, डूबने से डरा, रहा किनारे बैठ।' और आप कह रही हैं कि "मैं अपने प्रयासों को कैसे बेहतर करूँ?" डूबने के लिए कोई प्रयास करना पड़ता है? तैरने के लिए करना पड़ता है। आप पूछ रही हैं कि, "मैंने जब भी कोशिश की खोजने की, तो मुझे मिला नहीं।" तो आप पूछ रही हैं कि "मैं और कैसे कोशिश करूँ कि पा लूँ।" और कबीर क्या कह रहे हैं आपसे? कबीर कह रहे हैं डूब जाओ।

कबीर कोई तुमसे कोशिश करने को कह रहे हैं? कबीर ने कोई ये आश्वासन दिया है कि कोशिश करोगे तो पाओगे? कबीर ने क्या कहा है? डूब जाओ। और जब तक कोशिश कर रहे हो, तब तक डूबोगे नहीं। डूबा तो ऐसे ही जाता है कि डूब गए। कोशिश करने वाले तो तैर जाते हैं न फिर, या इधर से उधर से सहायता मँगा लेते हैं। बड़ा कर्ता-भाव होता है उनमें, कुछ-न-कुछ छप-छुप कर ही देते हैं, कोई-न-कोई उनको डूबने से रोक लेता है। डूब नहीं पाते।

आप जो भी कोशिश करोगे, उससे कुछ नहीं होगा। आप ही तो कोशिश कर रहे हो न? आपकी सारी कोशिशें आपको ही मजबूत करेंगी। और यहाँ बात हो रही है हटने की, गलने की, मिटने की; मजबूत होने की थोड़े ही बात हो रही है। अपने से आगे जाने के आपके सारे प्रयत्न विफल जाएँगे। वो आपके करे नहीं होगा, आपको प्रयत्न करने का शौक है तो इतना ही कर लो कि प्रयत्न ना करो। यकीन मानिए उसमें भी आपको प्रयत्न लगेगा क्योंकि आपको हर चीज़ में लगता है।

जब हम सहजता से कुछ नहीं करते, तो सहजता से 'कुछ नहीं', नहीं भी कैसे करेंगे?

जो सहजता से चल नहीं सकता, वो सहजता से खड़ा भी कैसे हो जाएगा?

जो दिन भर सहजता से जगा नहीं रहा, वो सोते समय भी तो असहज ही रहता है न? तो यही कारण है कि प्रयत्न ग़ैर ज़रूरी होते हुए भी आपके लिए इतना ज़रूरी है कि आप प्रयत्न ना करें। उसमें भी आपको कोशिश लगेगी, इंतज़ाम करने पड़ेंगे, यहाँ जाना पड़ेगा, वहाँ जाना पड़ेगा, सीखना पड़ेगा आपको ये भी।

क्या सीखना पड़ेगा? 'कोशिश कैसे नहीं करी जाती', ये सीखना पड़ेगा। अभी तक कोशिश करना सीखा है न? और इतनी गहराई से सीख लिया है ये कोशिश करना कि अब कोशिश ना करना भी सीखना पड़ेगा; बिना सीखे काम ही नहीं चलता। ऐसे समझ लीजिए कि जैसे पहले किसी बर्तन को कोशिश कर-कर के गंदा किया जाए, या अपनी शक्ल पर कोशिश कर-कर के दुनिया भर के रंग चढ़ाएँ और फिर कोशिश कर-कर के उन रंगों को छुड़ाया जाए।

होली के बाद देखा है कितना समय लगता है, कितनी कोशिश लगती है रंग छुड़ाने में? आप कर क्या रहे हैं? आप कुछ पाने की कोशिश नहीं कर रहे हैं, आप क्या कोशिश कर रहे हैं? आप कुछ छुड़ाने की, आप हल्का होने की कोशिश कर रहे हैं, जो भार चढ़ा लिया है अपने ऊपर, उसको हटाने की कोशिश कर रहे हैं, पर उसमें भी अब लगेगी। क्योंकि पकड़ लिया है न आपने, शरीर ने रंग को पकड़ लिया है, तो छुड़ाने में भी कोशिश लग रही है। तो मिला-जुला कर बात ये निकली कि हमें डूबना भी कोशिश कर के होगा।

अप्रयास साधना पड़ेगा। प्रयास तो खूब साधा ही है, अप्रयास साधना पड़ेगा। और मन तड़पेगा, जब भी स्थिति आएगी अप्रयास की मन कहेगा, "कर लो न प्रयास, कर लो न कोशिश।" मन की इसी वृति का विरोध ही एक नया प्रयास बनेगा। तो अब करिए, नया प्रयास करिए। पुरानी जितनी वृतियाँ हैं, जिनसे आपका कर्ता भाव प्रबल होता है, उनका विरोध करना पड़ेगा। वो तो आपको खीचेंगी, जो आपने उनको गति दे दी है, जो ऊर्जा दे दी है, वो ऊर्जा अपना काम करेगी। आपको उनके विरुद्ध खड़ा होना पड़ेगा।

"तो आप आजकल क्या कर रहे हैं?"

"साहब हम अप्रयास का प्रयास कर रहे हैं!”

ये करना पड़ेगा, बात बहुत विचित्र है और बात बहुत बेवकूफी भरी लगती है, पर हमारी स्थिति ही कुछ ऐसी है, करें क्या?

प्र२: सर, अगर उन वृत्तियों को, जिनको, हमने पहले बल दिया है, अब उनका विरोध कर रहे हैं लेकिन ऊर्जा नहीं मिल रही है। तो इसका मतलब फिर क्या होगा?

आचार्य: किसको ऊर्जा नहीं मिल रही है, वृत्ति को?

प्र२: नहीं।

आचार्य: विरोध को?

प्र२: हाँ, जो विरोध कर रहा है।

आचार्य: तो फिर समझ में नहीं आया है कि विरोध की अभी ज़रूरत है। और देखो एक बात को समझो, विरोध करने वाले के पास हमेशा दो चीज़ें होती हैं: एक संसाधन, दूसरा संकल्प। तुम्हें ग़ौर से देखना पड़ेगा कि तुम्हारे पास क्या नहीं है। संसाधन नहीं है या संकल्प नहीं है। संसाधन का क्या मतलब है? संसाधन का मतलब होता है कि सैनिक लड़ने गया है, तो उसके पास बन्दूक और गोलियाँ हैं कि नहीं है? और संकल्प का क्या मतलब होता है? कि उसके पास आत्मबल है कि नहीं है?

वृत्तियों के सामने संसाधन तो हमेशा कम पड़ेंगे तुम्हारे, क्योंकि तुमने ही वृत्तियों को इतने संसाधन दे दिए हैं कि अपेक्षतया तुम्हारे पास अब कम पड़ेंगे। हाँ, संकल्प हो सकता है तुम्हारे पास। संकल्प उठता है बोध से, संकल्प

उठता है ये जानने से कि, "इन वृत्तियों से नुकसान कितना है मुझे।" तब संकल्प उठता है, और संसाधनहीन संकल्प भी करिश्मे कर देता है। संसाधन तो कम पड़ेंगे, वृत्तियों से बहुत मार खाओगे, पर अगर संकल्प है, तो जीत जाओगे।

देखो, तुमने अपने इर्द-गिर्द जो भी लोग इकट्ठा कर रखे हैं, जो भी स्थितियाँ बना रखी हैं, वो कौन हैं? वो तुम्हारी वृत्तियों की पैदाइश हैं, तुम्हारी वृत्तियों के कारण ही ये स्थितियाँ और ये लोग तुम्हारे इकट्ठे हुए हैं। तुम्हारे आस-पास जो भी स्थिति है, वो बंदूक है, जो तुम्हारे ऊपर तनी हुई है। हम सब अलग-अलग स्थितियों में है न? वो स्थितियाँ जो हैं, वो किसने निर्मित करी हैं? वो हमारी वृत्तियों का ही तो प्रतिबिम्ब हैं, वो हम ही ने तो इकट्ठा करी हैं अपने चारों ओर।

ऐसे समझ लो, एक कामुक आदमी है, ठीक है? वो अपने कमरे में हर तरफ़ क्या कर देगा? चारों तरफ़ उसने कामुक चित्र लगा दिए हैं। ये स्थिति किसने पैदा करी? उसकी वृति ने। अब वो अगर अपनी वृति से लड़ना चाहेगा, तो उसके ऊपर कौनसी बंदूकें तनेंगी? ये जो चारों तरफ़ चित्र लगे हुए हैं। तो तुम्हारे जितने दोस्त यार हैं, तुम्हारा जो पूरा संसार है, ये तुम्हारी वृतियों ने ही पैदा किया है और यही वो बंदूकें हैं, जो तुम्हारे सामने तनी हुई हैं। इनके सामने तुम्हारे व्यक्तिगत संसाधन हमेशा कम पड़ेंगे, लेकिन संकल्प तुम्हें जिता सकता है।

संकल्प जिता सकता है। वो संकल्प बोध से उठता है। वो संकल्प तुम्हारी ताक़त नहीं है, वो किसी और की ताक़त है। उसकी प्रार्थना करो, उसी की ताक़त से जीतोगे, नहीं तो तुमने तो पूरा इंतज़ाम कर लिया है डूबने का। तुम्हें कहीं से मदद नहीं मिल सकती, कहीं से नहीं मिल सकती। तुम्हारा कपड़ा, तुम्हारी बोली, तुम्हारा पहनावा, चाल-चलन, खान-पान, दोस्त-यार, स्मृतियाँ, लक्ष्य ये सब तुम्हारी वृतियों का ही चित्रण हैं, और ये सब लगे हुए हैं उन्हीं वृतियों को पुष्ट करने में और तुम्हें कमज़ोर रखने में। उनसे तुम्हें मदद नहीं मिलेगी।

एक मोटा आदमी है। उसका फ्रिज खोलो, अन्दर क्या पाओगे?

प्र२: खाना।

आचार्य: और एक गठे हुए शरीर का तंदुरुस्त एथलीट है, उसका फ्रिज खोलो तो क्या पाओगे?

प्र२: फ्रूट्स (फल)।

आचार्य: बात समझ में आ रही है तुम्हें? तुम्हारे आस-पास का पूरा माहौल किसकी पैदाइश होता है? तुम्हारी अपनी वृत्ति की। अब मोटे आदमी के फ्रिज में भी क्या है? मोटापा। और वो खाएगा तो और क्या होगा?

श्रोतागण: मोटा।

आचार्य: तो तुम्हारा जो पूरा माहौल है, उसकी पूरी चेष्टा क्या रहती है? कि जो तुम हो, उसी को और ज़्यादा बढ़ा दे। मोटे को और मोटा कर दे। तुम व्यसनी हो, तो तुम कैसे दोस्त पकड़ोगे? व्यसनी। और उन दोस्तों की पूरी फिर कोशिश क्या रहेगी?

श्रोतागण: और परेशान करना।

आचार्य: हमारा संसार हमारी वृत्तियों का ही विस्तार है, और कुछ नहीं है संसार। इससे तो तुम मदद नहीं पा पाओगे।

प्र२: सर, इनसे ऐसे मदद नहीं होती कि जैसे घर से कुछ समय के लिए दो-तीन महीने हॉस्टल में रहने लग जाओ? वो माहौल ही बदल दिया जाए?

आचार्य: चुनोगे तुम ही न? तुम चुन सकते तो फिर समर्पण का इतना महत्व क्यों होता? किसी दिन एक ब्रैंड की पी लो, किसी दिन दूसरे ब्रैंड की पी लो, ब्रैंड बदलने से फ़र्क़ क्या पड़ता है? हॉस्टल कौन चुन रहा है? तुम ही चुन रहे हो न? अब मोटा आदमी है, तुम उसकी चॉकलेट छीन लोगे, तो वो पिज़्ज़ा खा लेगा, (हँसते हुए) मोटापा तो क़ायम रहेगा। चुनोगे तो तुम ही न?

समर्पित होना फिर दूसरी बात होती है। समर्पित होने का अर्थ है कि, “मैंने अपना चुनने का अधिकार त्यागा, मैं नहीं चुनूँगा। ठीक, घर से यदि निकलना भी है, तो मैं अपनी इच्छा पर निर्भर रह कर नहीं निकलूँगा। आदेश होगा, तो निकल जाऊँगा। और फिर ये नहीं पूछूँगा कि, ‘अब कहाँ कह रहे हो कि जा कर रहो?’ जहाँ को आदेश होगा, वहाँ जा कर रह लेंगे।” और होता भी यही है। मैंने दो चीज़ों की बात की थी, संसाधन और संकल्प, संकल्पित होना यही होता है कि, “मैं संकल्प लेता हूँ कि आदेश का पालन करूँगा।” और कोई संकल्प नहीं होता।

जब आदेश का पालन करते हो, तो फिर जहाँ से आदेश आता है, वहीं से उस आदेश के पालन की ऊर्जा भी आ जाती है। वही दे देता है उर्जा, और वही एक मात्र उम्मीद है तुम्हारी, वहीं से जीत है तुम्हें, और कहीं से नहीं मिलेगी।

भूलना नहीं कि तुम्हारी अपनी ऊर्जा तो तुम दूसरों को दे आए हो, तुमने अपनेआप को तो बेच ही दिया है। तुम्हारी अपनी बंदूक तो अब तुम्हारे ऊपर ही चलेगी। ये संसार तुम्हारे ऊपर जो बंदूकें ताने बैठा है ये संसार ये नहीं है, ये तुम्हारी बंदूकें हैं। ये दुनिया जो तुम्हें बन्धनों में कसे बैठी है, ये हक़ दुनिया को किसने दिया? तुमने दिया। तो तुमसे कह रहा हूँ कि तुम्हारे ऊपर जो बंदूकें तनी हुई हैं, वो तुम्हारी अपनी हैं, तो तुम कभी ये ना सोचना कि अपने प्रयत्नों से आज़ाद हो सकते हो।

तुम्हें आज़ादी तुम्हारे प्रयत्न से नहीं, तुम्हारे समर्पण से मिलेगी, और उसी का नाम संकल्पशीलता है।

संकल्प का मतलब ये नहीं होता कि, “मैं आज़ाद होकर दिखाऊँगा!” संकल्प का अर्थ होता है कि, "मैं अपनी इच्छा से आज़ाद हुआ, मैं अब व्यक्तिगत कोशिश नहीं करूँगा।" और बहुत ताक़त चाहिए ये संकल्प लेने के लिए।

तुम्हारी कोशिश तो यही रहेगी कि, “मैं कुछ कर के ख़ुद अपने प्रयत्नों से आज़ाद हो जाऊँ। एक श्रेय और जुड़ जाएगा, थोड़ी कीर्ति और मिल जाएगी कि साहब खुद कर के, अपनी होशियारी से, और अपनी मेहनत से यहाँ तक पहुँचे हैं।” और उसके बाद तुम्हें और सुविधा मिल जाएगी कि, “जब खुद ये कर लिया, खुद वो भी कर लिया, तो अब आगे भी करना है, तो वो भी ख़ुद ही कर डालो”; अहंकार और घना हो जाएगा।

“घर छोड़ कर हॉस्टल चले गए। देखो कितने होशियार थे, ख़ुद जानते थे कि समाधान क्या है और एक समस्या का समाधान कर लिया तो बाकी सारी समस्याओं का भी ख़ुद ही कर लेंगे।” और ये भूल गए कि तुम आप अपनी समस्या हो।

जितना ज़्यादा आप में भरोसा रखोगे उतना ज़्यादा फँसोगे।

प्र३: इसी प्रश्न को आगे लेते हैं, आप बात कर रहे हैं समर्पण की और फिर टोटल सरेंडर की बात कर रहे हैं आप। और आपने थोड़ी देर पहले भी अभी बोला था कि हमारे हाथ में नहीं है कि इन परिस्थितियों से बाहर निकलना, ये आएगा बोध के द्वारा। तो ये कैसे होगा फिर, संभव कैसे होगा? समर्पण कैसे किया जाता है? बोध कैसे आता है? कैसे इन परिस्थितियों से बाहर निकला जाए?

आचार्य: आप बहुत कुछ करते रहते हैं और उस करने में आपका बड़ा यकीन है। आपको लगता है उस करने में कुछ सार्थकता है, उस करने से कुछ मिल जाना है। जब ये दिखाई दे जाता है कि, "मैंने जो भी करा, वो मुझे उल्टा ही पड़ा, तो उस स्थिति को समर्पण कहते हैं।" जब ये दिख जाए कि, “जितने हाथ-पाँव चलाऊँगा, उतने झटके खाऊँगा”, तो आगे ज़रा भी हाथ-पाँव चलाने की इच्छा शेष नहीं रह जाती, इस स्थिति को समर्पण कहते हैं।

तो समर्पण कोई विधायक कृत नहीं है कि कहीं जा करके आप समर्पित हो कर आ गए। समर्पण का इतना ही मतलब है कि, "अभी तक जो मैं कर रहा था, उसकी बेवकूफी मुझे दिख गई है; उसे आगे करने से कोई लाभ नहीं, ये दिख गया है मुझे।"

समर्पण कैसे भी नहीं किया जाता है; समर्पण तो करने का अंत है।

समर्पण की क्या विधि होंगी? कुछ करने की विधि हो सकती है, कुछ ना करने की तो क्या विधि बताऊँ? और समर्पण सीखा नहीं जाता, समर्पण हो जाता है। समर्पण ध्यान का फल है। आप ऐसे समझ लीजिए कि आप कहीं खड़े हैं, और

वहाँ चारों तरफ काँटे-ही-काँटे है, आप नंगे पैर हैं, आप दाएँ ओर पैर बढ़ाओ, तो क्या चुभता है?

प्र३: काँटा।

आचार्य: आप बाएँ ओर बढ़ाओ तो क्या चुभता है?

प्र३: काँटा।

आचार्य: आप आगे जाओ तो क्या चुभता है?

प्र३: काँटा।

आचार्य: आप पीछे जाओ तो क्या चुभता है?

प्र३: काँटा।

आचार्य: आप कूद मारो तो क्या चुभता है?

प्र३: काँटा।

आचार्य: आप लेट जाओ तो क्या चुभता है?

प्र३: काँटा।

आचार्य: आप थोड़ा सा टटोलो कि आगे क्या है, तो भी क्या चुभता है?

प्र३: काँटा।

आचार्य: आप ज़रा सा कुछ करते हो तो क्या होता है? काँटा ही चुभता है, और आप संवेदनशील हो। आप अब ऐसे नहीं हो कि पत्थर जैसे हो, कि काँटा चुभ भी रहा है, तो पता नहीं चल रहा। हमारी हालत अक्सर ये रहती है, हम इतने असंवेदनशील हो जाते हैं अपने प्रति कि हमे अपने दुखों का पता ही नहीं चलता।

आप संवेदनशील हो, आपको दिख रहा है कि, "ज़रा सा हिलता हूँ, और काँटा चुभ जाता है। ज्यों ही करता हूँ, उल्टा पड़ता है।" तो फिर आप क्या करोगे?" आप शांत हो कर खड़े हो जाओगे, इस स्थिति को समर्पण कहते हैं, कि, “मैं ज़रा भी हिला, तो एक झटका और पाऊँगा, एक चोट और खाऊँगा। मैं चुप-चाप खड़ा हो जाऊँ", इसी को समर्पण कहते हैं। इसके बाद क्या होगा आप नहीं जानते, इससे क्या लाभ है ये भी आप नहीं जानते, आपके लिए इतना ही लाभ काफ़ी है कि, "यदि समर्पण कर रहा हूँ, तो कम-से-कम?"

प्र३: काँटे नहीं चुभेंगे।

आचार्य: काँटा नहीं चुभ रहा। हाँ, कोई बड़ा लाभ हो जाए, तो अनुग्रह। आप किसी बड़े लाभ की उम्मीद में समर्पण नहीं करते हो, आपके लिए इतना ही काफ़ी होता है कि समर्पण करके अपनी बेवकूफियों से बाज आया, ख़ुद नहीं करना पड़ रहा है।

आप कहीं को गाड़ी भगाए लिए जा रहे हैं, और आपने अभी नई-नई सीखी है। और आप ऐसे अनाड़ी हो कि पाँच-

सात गाड़ियों को ठोक चुके हो रास्ते में, और अब आपकी हालत ये है कि जो ही कुछ सामने से आ रहा होता है आप उसी से भिड़ रहे हो, और कुछ सामने नहीं आता तो आप सड़क से गाड़ी उतार देते हो। आप गाड़ी चलाना रोक देते हो। अब गाड़ी चलाना रोकने से ये नहीं हो रहा है कि आपकी कोई बहुत बड़ी मंज़िल है आप उस तक पहुँच जाओगे। मंज़िल का तो आपको अब कोई ख्याल भी नहीं है, आपके लिए इतना ही काफ़ी है कि जान बची रहेगी कम-से-कम गाड़ी रोक दी तो, इतना ही काफ़ी है, यही समर्पण है।

चुप-चाप खड़े हो गए, "अब जो होना हो सो हो, हम ये ख्याल नहीं कर रहे कि आगे क्या होगा। रुकना ही काफ़ी है, रुकने में ही जान बच गई, ये ही बहुत है।" मज़ेदार बात ये रहती है कि जो रुक जाते हैं, उनको सिर्फ तात्कालिक कष्ट से ही मुक्ति नहीं मिलती कि काँटे चुभ रहे थे, अब नहीं चुभ रहे, उन्हें कुछ और बड़ा, विराट भी मिल जाता है। पर उस विराट को छोड़िए, उसकी कल्पना करने से कोई लाभ नहीं। आपके लिए इतना ही काफ़ी है कि रुक जाओगे तो काँटे चुभने बंद हो जाएँगे, बस इतना लाभ काफ़ी है।

स्वीकार करा नहीं जाता न? दिक्कत होती है, बड़ी चोट लगती है कि—"मैं इतना बेवकूफ हूँ कि जो करता हूँ, वही उल्टा पड़ता है"—ये स्वीकार करने के लिए ईमानदारी और साहस दोनों चाहिए। ये स्वीकार करना यानी सीधे-सीधे ये ठप्पा लगाना कि, "मैं गधा हूँ।" हम कहते हैं "देखिए कुछ असफ़लताएँ रही हैं जीवन में, सुख-दुःख रहे हैं" ये स्वीकार करना हमें बड़ा अपमानजनक लगता है कि "कुछ असफलताएँ नहीं रही हैं, जीवन ही असफ़ल रहा है।" ये स्वीकार करना ऐसा लगता है किसी ने गाली दे दी हो। किया नहीं जाता।

अब अनुभव (एक श्रोता की ओर इशारा करते हुए) दे रहा है आजकल इंटरव्यू। इससे खूब पूछा जाता है, "अपने बारे में कुछ बताओ?" बड़ी दिक्कत हो जाएगी न अब अगर तुम बताओ उसको "मेरी ज़िंदगी क्या है? असफलताओं की कहानी।" और, और दिक्कत हो जाएगी अगर बताओ कि, "तुम्हारी भी ऐसी ही है। हमने तो जो किया है उल्टा पड़ा है!"

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2014)

दुनिया मेरे विरुद्ध क्यों खड़ी है?

प्रश्नकर्ता: समाज से दूर होने को, समाज से असंप्रक्त होने को एक बड़ी बीमारी का नाम क्यों दे दिया गया है? अगर मैं अपने रास्ते चलना चाहता हूँ, अपने अनुसार जीना चाहता हूँ, तो दुनिया दुश्मन क्यों बनी बैठी है? उनको समस्या क्या है? मैं अपना जीवन जी रहा हूँ, अपने क़दमों पर चल रहा हूँ, अपनी राह बना रहा हूँ। दुनिया का क्या ले रहा हूँ?

आचार्य प्रशांत: सवाल बड़ा जायज़ है। मैं तुम्हें नुकसान नहीं पहुँचा रहा, मैं तुम्हारी चोरी नहीं कर रहा। मैं अपना जीवन जी रहा हूँ, मुझे जीने दो। मैं तुम्हारे घर में घुस कर नहीं बैठ रहा, मैं तुमसे छेड़खानी नहीं कर रहा, दखलंदाज़ी नहीं कर रहा, मुझे मेरे अनुसार जीने दो। पर ऐसा होता नहीं है। तुम पाते हो कि जब भी कोई इतना चैतन्य हो जाता है कि उसका जीवन बस उसकी समझ के अनुसार चलता है, तो उसके तमाम दुश्मन खड़े हो जाते हैं।

इस बात को समझना होगा कि दुश्मन क्यों खड़े हो जाते हैं। ये दुश्मन खड़े हो जाते हैं क्योंकि एक डरा हुआ आदमी भीड़ में ही सुरक्षा पाता है, और अगर वो उस भीड़ की तादाद कम होते देखेगा तो उसका डर बढ़ जाएगा।

जिस आदमी को अपना पता नहीं होता, वो चाहता है कि वो भीड़ में चले। भीड़ में चलकर उसको ऐसा एहसास होता है कि वो ठीक है, कि सब कर रहे हैं तो ठीक ही होगा। सबके साथ जा रहा हूँ तो सुरक्षित हूँ।

ऐसे में इस भीड़ की नज़र किसी एक ऐसे व्यक्ति पर पड़ जाती है जो अपनी राह अकेले चल रहा है मस्त होकर, एक धुन गुनगुनाता हुआ चला जा रहा है, बेख़ौफ़, किसी का डर नहीं, दाएँ-बाएँ देख ही नहीं रहा, अपने में मगन है, तो इस भीड़ का पसीना छूट जाता है। ये लाखों लोगों की भीड़ उस एक आदमी से बुरी तरह से डर जाती है क्योंकि उस एक आदमी का होना ये सिद्ध कर देता है कि भीड़ झूठी है। उस एक आदमी का होना ये प्रमाण होता है कि वैसे जिया जा सकता था, तो तुम ऐसे क्यों जी रहे हो? उस एक आदमी का अस्तित्व इस पूरी भीड़ के मुँह पर एक तमाचा होता

है। तो भीड़ बुरे तरीके से बौखला जाती है और उसकी जान लेकर छोड़ती है।

इतिहास गवाह है कि ऐसे लोगों को भीड़ ने बख्शा नहीं है जो अपनी मौज में जीते थे। उनको या तो सूली दे दी, ज़हर पिला दिया, मार डाला, या समाज से बहिष्कृत कर दिया। वो एक आदमी भीड़ के लिए उतना ही खतरनाक होता है जितना कि रौशनी की एक किरण अँधेरे के लिए। रोशनी की एक किरण ये सिद्ध कर जाती है कि अँधेरा झूठा है। एक किरण भी उसको मिटा सकती है।

तुमने देखा नहीं है कि लोग भीड़ में सुरक्षा पाते हैं? तुम पूछो अपने आप से कि, "दिवाली आ रही है, ट्रेन में जाओगे तो जगह मिलनी क्यों मुश्किल हो जाएगी?" तुम पूछो अपने आप से कि, "एक ही दिन सबको आनंद कैसे दे सकता है? और क्या ये वास्तव में समझते हैं कि इसमें आनंद कहाँ है, उत्सव कहाँ है?" तुम पूछो अपने आप से कि, "दुनिया के जितने संगठित धर्म हैं, ये अपनी तादाद बढ़ाने पर इतना ज़ोर क्यों देते हैं?" लगे रहते हैं कि किसी तरह औरों का धर्म परिवर्तन हो जाए और हमारी संख्या बढ़ जाए क्योंकि ये डरे हुए हैं।

जो आदमी झूठा होगा वो डरा होगा और लगातार अपनी तादाद बढ़ाने की कोशिश करेगा। वो चाहेगा कि मेरे जैसे और पैदा हो जाएँ।

होते रहें उसके जैसे हज़ार पैदा, पर उसका डर जाएगा नहीं। वो एक झूठा इलाज़ कर रहा है। पचास करोड़, सौ करोड़, डेढ़-सौ करोड़ तुम्हारे धर्म को मानने वाले हैं पर तुम्हें अभी और चाहिए, तुम्हारा डर जा नहीं रहा है। तुम क्या सोचते हो कि पृथ्वी की पूरी आबादी को अपने धर्म में सम्मिलित कर लो, तुम्हारा डर क्या तब भी चला जाएगा? डर तुम्हारा तब भी नहीं जाएगा क्योंकि तुम्हारा धर्म तुम्हारा है ही नहीं। तुमने कभी जाना ही नहीं धर्म का अर्थ। तुमने जीवन को कभी समझा नहीं।

तुम देखते नहीं हो कि किसी से अगर तुम सच बोलो तो उसका आखिरी तर्क क्या होता है? “सब ऐसा कर रहे हैं तो हम भी कर रहे हैं, तुम क्या दुनिया से अनूठे हो? दुनिया जिस राह चल रही है तुम्हें भी चलना पड़ेगा।” ये एक कमज़ोर आदमी का आखिरी तर्क है कि दुनिया जिस राह चल रही है तुम्हें भी चलना पड़ेगा। “तुम में क्या अलग है? तुम क्या खास पैदा हुए हो? तुम्हारी क्या तीन आँखें हैं? क्या विलक्षण हो तुम?” इस तरीके के बेहुदे तर्क दिए जाएँगे तुमको और हर तर्क का आशय सिर्फ एक होगा कि भीड़ के साथ चलो। वही करो जो दुनिया कर रही है, और तुम

वही करते रह गए जो दुनिया कर रही है तो हश्र तुम्हारा वही होगा जो दुनिया का हो रहा है।

अपने आसपास दुनिया कैसी है थोड़ा इसको ध्यान से देखो आँखें खोल कर। कभी सड़क के किनारे खड़े हो जाया करो और देखा करो कि ये दुनिया है कैसी। पूछो अपने आप से कि, "मेरा जो ये छोटा-सा जीवन है मैं इसको क्या ऐसे ही जीना चाहता हूँ?"

किसी ने कहा है कि व्यक्ति कभी कोई अपराध नहीं करता, हर अपराध भीड़ का किया हुआ है। और दुनिया के सबसे जघन्य अपराध व्यक्तियों ने नहीं भीड़ों ने किए हैं। व्यक्ति भी अपराध तब करता है जब भीड़ उसके मन में घुस कर बैठ जाती है। जो विशुद्ध 'मैं' होता है, जो तुम्हारी निजता होती है, उसमें तुम कभी अपराध कर ही नहीं सकते।

जब दंगे हो रहे होते हैं तो देखना कि एक अच्छा खासा भला आदमी जब भीड़ में आता है तो दंगाई बन जाता है। वो अपने पड़ोसी का घर जला देगा, वो किसी को छुरा घोंप देगा। ये काम, ये आदमी कभी व्यक्ति की तरह नहीं कर पाता। ये काम उससे भीड़ ने करवा दिया।

जानते हो अपराधी कौन? जिसका मन अस्वस्थ है। और अस्वस्थ शब्द को ज़रा समझो। 'स्वस्थ' – 'स्थ' मतलब 'स्थित होना'। जो अपने में स्थित है वही स्वस्थ है। बीमार वही जो अपने से बाहर हो गया है, भीड़ का गुलाम हो गया है, जिसका 'स्व' खो गया है। जिसका 'स्व' खो गया उसका स्वास्थ्य खो गया, और 'स्व' खोने का लक्षण ही है कि तुम अपने आप को भीड़ का हिस्सा मानना शुरू कर दो।

मुझे बड़ा अफ़सोस होता है, मैं ताज्जुब में पड़ जाता हूँ जब देखता हूँ कि तुम सवाल पूछते हो तो स्वयं को सम्बोधित करते हो 'हम' से। मैं पूछता हूँ कि तुम 'मैं' क्यों नहीं बोल सकते? तुम 'मैं' की भाषा में बात क्यों नहीं कर सकते? 'हम' में तुम्हें सुरक्षा मिलती है, 'हम' में तुम्हें लगता है कि "मैं प्रतिनिधि हूँ भीड़ का। मैं अपनी बात थोड़े ही कर रहा हूँ, मैं सौ और लोगों की बात कर रहा हूँ।" इससे तुम्हें बड़ी ताक़त मिलती है, इससे तुम्हें लगता है कि, "मेरे पीछे कोई खड़ा है, सम्भाल लेगा। पूरी एक भीड़ है समर्थन में।" 'हम' नहीं 'मैं', अपनी बात करो। तुम कहाँ हो? और देखो हम कैसी-कैसी भीड़ों में पड़े हुए हैं।

जहाँ कहीं भी तुम्हारे ऊपर दूसरों का प्रभाव हो, वहाँ समझ लेना कि भीड़ में जी रहे हो। वो प्रभाव किसी का भी हो सकता है। दूसरे व्यक्ति का प्रभाव ही भीड़ है। भीड़ के लिए पाँच हज़ार लोग नहीं चाहिए, सिर्फ एक व्यक्ति जो तुम्हारे मन पर हावी होकर बैठा है वही भीड़ है। वो परिवार हो सकता है, वो समाज हो सकता है, वो मीडिया हो सकता है, वो कोई नेता हो सकता है, वो कोई धर्म-ग्रंथ हो सकता है, वो कोई विचार हो सकता है, वो कोई आदर्श हो सकता है। जहाँ कहीं भी कोई दूसरा है, वही भीड़ है।

जो अपने में रह सके वही भीड़ से बचा हुआ है, और अपने में रहने की कीमत तो थोड़ी चुकानी पड़ेगी, भीड़ तो तुम्हारी दुश्मन होकर रहेगी। तो भीड़ जब तुम्हारी दुश्मन हो तो बौखला मत जाना, न ये समझ लेना कि, "मैंने कुछ गलत किया होगा इसलिए इतने लोग मेरे दुश्मन हो गए।" अगर बहुत लोग तुम्हारे दुश्मन हो गए हैं तो समझ लेना कि कुछ अच्छा ही किया होगा। अगर पाओ कि पूरी दुनिया तुम्हारे विरोध में खड़ी है तो समझ जाना कि ठीक हो।

एक वक्ता था। वो जब बोलने जाता और उसके सामने की भीड़ तालियाँ बजा दे, तो उसे बड़ा अफसोस होता। वो कहता, “आज ज़रूर कुछ गलत बोल दिया, नहीं तो इतनो को समझ में कैसे आ जाता?” जहाँ कहीं भी भीड़ को अपने साथ पाओ समझ लेना कि कुछ चूक हो रही है; और जहाँ भी भीड़ तुम्हारे विरुद्ध खड़ी हो, वहाँ समझना की कुछ अच्छा ही घट रहा होगा, नहीं तो इतने लोग नहीं होते। "इतने सारे मूर्ख मेरे विरुद्ध हैं, तो निश्चित ही मैं कुछ ठीक ही कर रहा हूँ।"

ये कीमत चुकाओ, डर मत जाना, और हिंसक भी मत हो जाना। उस भीड़ से दुश्मनी करने की ज़रूरत नहीं है। वो बेचारे तो करुणा के पात्र हैं। उन्हें खुद नहीं पता है कि वो क्या कर रहे हैं। तो अपनी जान तो बचा लो, पर उनकी जान के दुश्मन मत हो जाना। जब मौका मिले, उनको उचित सलाह देना, उनकी मदद करना क्योंकि भीड़ में जो भी है, वो दुःखी है। उसे तुम्हारी मदद की ज़रूरत है। भीड़ का हर व्यक्ति भीड़ से मुक्त होना चाहता है कहीं गहराई में, पर हो नहीं पा रहा। उसे तुम्हारी मदद चाहिए। उसे मदद देना पर पहले अपनी जान बचा लो।

....

(उत्तर प्रदेश, 2013)

प्रभावों से इनकार ही स्वभाव का स्वीकार है

प्रश्नकर्ता: सर, मेरा सवाल यह है कि क्या हमें अपनी ज़िन्दगी हमेशा दूसरों के बताए हुए रास्ते पर ही चलानी चाहिए या हमारी ख़ुशी जिसमें है वो काम करना चाहिए? जैसे कि मैं डिप्लोमा का कोर्स कर रहा हूँ। बहुत से लोग, यहाँ तक कि मेरे घर में – मेरे एक रिश्तेदार हैं, जो किसी बड़ी कंपनी में हैं – उन्होंने बोला था कि आपके पास यह डिग्री होनी चाहिए तो हम आपकी नौकरी इस कंपनी में लगवा देंगे। तो इस तरह आपका भविष्य सुरक्षित हो जाएगा, आपको सफ़लता मिल जाएगी।

मेरा सवाल यह है कि क्या हमें उस सफ़लता के पीछे जाना चाहिए जो हमें दूसरों के बताए हुए रास्ते से मिलेगी या फ़िर हमें उस ख़ुशी के पीछे जाना चाहिए जो हमें...

आचार्य प्रशांत: क्या नाम है?

प्र: शैलेन्द्र।

आचार्य: शैलेन्द्र का सवाल है- दूसरों के बताए हुए रास्ते पर चलें या अपना हिसाब-किताब करें?

शैलेन्द्र, इसका ज़वाब मैं तुम्हें तभी दूँगा जब तुम इस पंखे पर बैठ जाओ।

(श्रोतागण हँसते हैं)

अगर ज़वाब पाना चाहते हो तो इस पंखे पर बैठो।

बैठो! बैठ जाओ-बैठ जाओ।

अरे! कुर्सी पर नहीं पंखे पर।

(सभी ज़ोर-ज़ोर से हँसते हैं)

प्र: लेकिन कैसे?

आचार्य: इस कुर्सी पर चढ़ो और पंखे पर बैठ जाओ। मैं रास्ता बता रहा हूँ, चलो न उसपर। पूछ रहे हो, अपने बनाए रास्ते पर चलूँ या दूसरों के बनाए रास्ते पर; अब मैं ही जो रास्ता बता रहा हूँ उस पर ही चलने को तैयार नहीं हो!

पंखे पर नहीं बैठना? अच्छा चलो, कम-से-कम शीर्षासन करो; सर नीचे, पाँव ऊपर।

करो न!

अच्छा, दो-चार लोग मिलकर करवा दो भाई।

(सभी ठहाके मारकर हँसते हैं)

नहीं करना चाहते?

प्र: नहीं, सर।

आचार्य: क्यों ‘नहीं सर’ बोल रहे हो? ‘नहीं सर’ बोलने का मतलब समझते हो? ‘नहीं सर’ का अर्थ समझते हो क्या होता है?

“मुझे नहीं करना। मैं जानता हूँ मैं नहीं करूँगा।”

जब ‘नहीं’ कह पाने की काबिलियत है तो उसको इस्तेमाल क्यों नहीं करते? क्यों पूछ रहे हो कि दूसरों के बताए हुए रास्ते पर चलें कि ना चलें? चलते ही तो जाते हो दूसरों के कहने पर। लगातार दूसरों के कहने पर ही चलते जाते हो। ‘नहीं’ बोलना तुम्हें आता ही नहीं।

‘नहीं’ बोलने का अर्थ जानते हो क्या होता है? इसका अर्थ होता है- “मैं तुम्हें ‘ना’ इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि मैं खुद से चीज़ें देख-समझ सकता हूँ। तुम्हारे बताए रास्ते पर चलने की आवश्यकता नहीं मुझे क्योंकि मेरे पास मेरी अपनी दृष्टि है।”

और दृष्टि तुम सबके पास है। कोई ऐसा है जो नहीं जान सकता? तुम में से कोई ऐसा है जो अभी छह साल या आठ साल का है?

प्र: नहीं, सर।

आचार्य: सब जवान हो, सब काबिल हो, सब जान सकते हो, तो यह प्रश्न ही कहाँ पैदा होता है कि दूसरे बताएँ और तुम चल पड़े? यह सब काम तो मशीनें करती हैं कि बटन दबाया और पंखा घूमने लग गया! बटन दबाया और एयर-कंडीशनर ऑन हो गया! बटन दबाया और कैमरा ऑन हो गया। ये काम तो मशीनें करती हैं कि दूसरों ने बटन दबाया और तुम चल पड़े। इंसान का तो यह काम नहीं। इंसान के पास तो 'नहीं' बोलने की क्षमता होती है।

यह पंखा 'नहीं' बोलेगा?

प्र: नहीं, सर।

आचार्य: ऐसा होगा क्या कि अभी इस कमरे में दुनिया भर की गड़बड़ चल रही हो, यहाँ पर भ्रष्टाचार की बातें हो रही हों और तुम पंखा ऑन करो और पंखा कहे "नहीं, ऐसे भ्रष्टाचारियों को हवा नहीं दूँगा"? ऐसा कभी होगा?

(श्रोतागण हँसते हैं)

पंखा तो गुलाम है, जब भी बटन दबाओगे तो वो चल पड़ेगा। 'नहीं' बोलने की ताकत किसके पास है?

प्र: हमारे पास।

आचार्य: तुम्हारे पास क्यों है? क्योंकि तुम जान सकते हो, क्योंकि तुम जीवित हो।

जीवित होने का अर्थ ही यही है कि जीवन को अपनी दृष्टि से देखना, अपनी समझ से जीना। जो अपनी समझ से नहीं जी सकता, वो ज़िंदा ही नहीं है, कतई मुर्दा है।

जिसको ‘नहीं’ बोलना नहीं आता, वो मुर्दा ही है। और समाज हमेशा तुमसे अपेक्षाएँ करता रहेगा। अपेक्षा भी छोटा शब्द है, तुम्हें आदेश देता रहेगा कि “ये करो, वो करो।" तुम्हें इनकार करना आना चाहिए। तुम्हें ‘ना’ बोलना आना चाहिए।

‘ना’ बोलना मुक्ति की दिशा में पहला कदम है। जो लगातार ‘हाँ’ ही बोले जा रहा है, वो मशीन है। मशीन कभी ‘ना’ नहीं बोलती। तुम्हें इनकार करना आना चाहिए। तुम्हें ‘ना’ बोलना आना चाहिए।

तो बहुत हो गया अब! हाँ, हाँ, हाँ करते-करते। अंग्रेज़ी में चापलूस के लिए एक शब्द होता है, ‘*यस-मैन*’। वो सिर्फ यस (हाँ) बोलता है। *यस-मैन*।

‘ना’ बोलना भी सीखो, बेटा! और ज़बरदस्ती की ‘ना’ बोलने के लिए नहीं कह रहा हूँ कि जैसे अभी हाँ-हाँ बोलते हो फिर ना-ना चालू कर दिया।

‘ना’ का अर्थ है बेहोशी को ‘ना’ कहना। ‘ना’ का अर्थ है गुलामी को ‘ना’ कहना। ‘ना’ का अर्थ है होश को ‘हाँ’ कहना। जब तुम बेहोशी को ‘ना’ कहते हो, तो इसका मतलब होश को ‘हाँ’ कह रहे हो। जब तुम गुलामी को ‘ना’ कहते हो, तब तुम मुक्ति को ‘हाँ’ कह रहे हो।

....

(कानपुर, 2013)

सेवा से पहले स्वयं

प्रश्नकर्ता: सर, बचपन से सुनते आए हैं ‘स्वयं से पहले सेवा’। पर यहाँ आकर सुना कि ‘सेवा से पहले स्वयं’। तो सर ये...

आचार्य प्रशांत: तो फँस गए!

प्र: हाँ, सर।

आचार्य: बैठो। बात ठीक है। भ्रम पैदा होना लाज़मी है। सेवा करेगा कौन? अब छह लोग तुम्हारे आसपास सोए हुए हैं और तुम भी सोए हुए हो और तुम उनकी सेवा करना चाहते हो। कर सकते हो? दूसरों की मदद कर लो। पर दूसरों को जगा सको इसके लिए क्या ज़रुरी है?

श्रोतागण: (एक स्वर में) पहले ख़ुद जाग जाओ।

आचार्य: पहले ख़ुद जगना होगा। पर हमें बड़ा उल्टा हिसाब पढ़ाया गया है। हमें कहा गया है कि “तुम जैसे हो वैसे ही रहो और दूसरों के काम आ जाओ।”

मैं ख़ुद बीमार हूँ। मैं दूसरों को स्वास्थ्य दे सकता हूँ क्या?

श्रोतागण: नहीं, सर।

आचार्य: मैं ख़ुद वायरस लेकर घूम रहा हूँ। तो मैं जिसको स्वास्थ्य देने जाऊँगा, मैं उसको दे क्या दूँगा?

श्रोतागण: (एक स्वर में) *वायरस*।

आचार्य: पर हमें आज तक यही पट्टी पढ़ाई गई है कि 'स्वयं से पहले सेवा'। अरे, पहले अपना स्वास्थ्य तो ठीक करूँ। एक बीमार आदमी, दूसरों की मदद भी करने जाएगा तो मदद की जगह उन्हें बीमारी दे देगा। हम सब बीमार हैं, पर हमसे कोई ये नहीं कहता कि पहले ख़ुद को देखो। हम भी सोए पड़े हैं और हमसे कहा जा रहा है कि दूसरों को जगाने के सपने लो। "हम दूसरों को जगा रहे हैं, मैं ये सपने लूँ।" हमसे ये नहीं कहा जाता कि पहले ख़ुद तो जग जाओ।

मैं तुम्हारे पास आया हूँ और मैं बुरी तरह भ्रमित हूँ। मुझे कोई स्पष्टता नहीं है। मैं भ्रमित हूँ तो मैं तुममें क्या बाटूँगा?

श्रोतागण: भ्रम।

आचार्य: भ्रम ही तो बाटूँगा न? जो मेरे पास होगा वही तो तुम्हें दूँगा न? तुम बुरे, बड़े ख़राब मूड में हो। बहुत ख़राब मूड में हो, और तुम तीन-चार ऐसे लोगों के पास पहुँच जाते हो जो ठीक-ठाक मूड में हैं। दस मिनट बाद सबका मूड कैसा होगा वहाँ पर?

श्रोतागण: ख़राब।

आचार्य: जिसका ख़राब मूड है, वो सबमें क्या बाँटेगा?

श्रोतागण: ख़राबी।

आचार्य: और जो ख़ुद मस्त है, ख़ुद ख़ुश है वो दूसरों को क्या दे सकता है?

श्रोतागण: ख़ुशी।

आचार्य: पर ये तो हमसे कभी कहा ही नहीं जाता कि, “बेटा पहले ख़ुद तो ख़ुश हो लो।” माँ-बाप कहते हैं, “हमारी खुशी के लिए कुछ कर दे।” और तुम कभी ये जवाब नहीं दे पाते कि, “पहले मैं ख़ुद तो ख़ुश हो लूँ, तभी तो आपको खुश करूँगा।” वो कहते हैं कि, “हमने भी ज़िन्दगी-भर यही करा है। हमने अपनी खुशियों की कुर्बानी दी है तेरे लिए।” तुम्हें जवाब देना चाहिए कि “तभी तो मैं ऐसा हो गया।”

(सभी हँसते हैं)

ऐसी कुर्बानी पर जो बड़ा होगा उसकी हालत तो ऐसी ही हो जाएगी न जैसी तुम्हारी हो गई है। मैं भी तुमसे यही कह रहा हूँ कि बाँटो। दूसरों को सब कुछ दो, लेकिन दूसरों को कुछ दे सको – जोकि बड़ा अच्छा काम है अपने आप में, बड़ा प्यारा काम है दूसरों को देना – उसके लिए पहले तुम्हारी जेब में कुछ होना चाहिए न! तुम्हारी जेब में हैं दो रूपए, तो तुम पड़ोसी को सौ रूपए दे दोगे? (व्यंग्य कसते हुए) “नहीं, सर, दे देंगे। चेक काट देंगे। भले ही बाउंस होता रहे बाद में। अभी तो दे दिया न।”

(सभी हँसते हैं)

तो हमारा जो लेना-देना है, वो ऐसे ही है। ऐसे चेक्स की तरह, जो बाउंस होते रहते हैं। उस वक्त यही लगता है कि दे दिया।

दो जने बैठे हैं आसपास और एक कह रहा है कि “जानेमन, मैं तेरे लिए कुछ भी कर जाऊँगा।” अब ये एक चेक है,

एक वादा है, एक प्रॉमिस है, जो आगे वो इस्तेमाल कर सकती है पर जब इस्तेमाल करने का समय आएगा तो तुम पीछे हट जाओगे। "अरे यार, उस वक़्त की बात थी, बातचीत थी, तो बस कह दिया। तू इसे इतना सीरियसली (गंभीरता से) कैसे ले सकती है? ऐसी बातें तो होती रहती हैं। अच्छा लगता है करने में, करनी चाहिए।"

(श्रोतागण हँसते हैं)

"जब मैं तुझसे बोलूँ कि मैं तेरे लिए कुछ भी कर जाऊँगा तो तू भी मुझसे बोल कि मैं भी तेरे लिए कुछ भी कर जाऊँगी। बस बात बराबर।"

(सभी श्रोता हँसते हैं)

"मैंने तुझसे कहा और तूने मुझसे कहा। तूने ये कैसे सोच लिया कि अब मैंने कह दिया तो करके भी दिखाऊँगा?"

ऐसे तो हमारे सम्बन्ध हैं। "भाई, जब तेरे पास कुछ है ही नहीं तो तू करके क्या दिखाएगा? वो तेरे से माँगने आई है और तू कह रहा है कि मेरी जेब खाली है, मैं दूँ क्या तुझे। जेब खाली, दिल खाली, दिमाग खाली। मैं तुझे दूँ क्या?" पहले दिल को भरो तो। पहले दिमाग को पाओ तो, फिर सबको देना। फ़िर तुम्हें देने की ज़रूरत भी नहीं पड़ेगी, फ़िर तुमसे अपनेआप बहेगा, तुमसे उद्भूत होगा। सबको मिलेगा।

हमारी दुनिया उन्हीं लोगों से परेशान है, जो दूसरों की भलाई करना चाहते हैं। हमने एक-दूसरे की भलाई कर-कर के अपनी ये हालत कर ली है। टीचर से पूछो तो वो स्टूडेंट की भलाई करना चाहते हैं। और स्टूडेंट से पूछो कि, "तेरा हो क्या रहा है?" तो वो कहेगा कि "अब सामने ही है, देख ही लो।"

(सभी हँसते हैं)

सभी भलाई करने में लगे हुए हैं। भलाई करने में अहंकार बड़ा अच्छा महसूस करता है। “मैं कौन हूँ ? मैं वो, जो सबकी सेवा करता है। अरे मैं पोप हूँ, अरे मैं मदर टेरेसा हूँ। मैं सबकी बड़ी मदद करता हूँ।” बड़ा अच्छा लगता है कहने में कि “मैं कुछ हूँ”। एक तरह का दम्भ है ये। “देख, मैंने तेरे लिए अपनी ज़िन्दगी कुर्बान की है।” कितना अच्छा लगता है बोलने में न? “भाई, तेरे लिए मैंने इतना कुछ किया और तू दगाबाज़ निकला, जा!” बड़ी सही अनुभूति होती है न। होती है कि नहीं होती है?

(सभी हँसते हैं)

“पूरी दुनिया ही कमीनी है, मैं ही अकेला संत हूँ। ये सब तो क्या हैं- धोखेबाज़, बेवफ़ा। जाओ, हमने तुम्हें इतना कुछ दिया और तुमने हमें कुछ नहीं दिया?”

देने की ये जो भावना है, इसमें बड़ा अच्छा लगता है। पर ये बस भावना-ही-भावना है। और कुछ नहीं है इसमें। स्व ही सब कुछ है। स्व जड़ है और सेवा फूल है। अब समझ में आ रही है बात? स्व जड़ है और सेवा उस पेड़ का फूल है। सेवा वहीं होगी जिस पेड़ की जड़ें मज़बूत हैं। जो पेड़ स्वस्थ है उसी पर बड़े प्यारे फूल खिलते हैं, बहुत अच्छे फूल आते हैं। पर अगर तुम ये चाहो कि जड़ें तो सड़ी रहें पर फूल तब भी आ जाएँ, ऐसा हो सकता है क्या?

प्र: नहीं।

आचार्य: स्व मूल है, सेवा फूल है। मूल मतलब जड़; स्व पर ध्यान दो, सेवा अपनेआप हो जाएगी। जो भी कोई तुम्हें बताए सेवा ज़रूरी है, मदद ज़रूरी है, सहायता, सेवा ज़रूरी है। उनसे कहना ऐसे सेवा नहीं हो सकती। बीमार आदमी सेवा नहीं कर सकता। ठीक है?

....

(हरियाणा, 2013)

जवानी अकेले दहाड़ती है शेर की तरह

आचार्य प्रशांत: मुझे बड़ी ख़ुशी होती इस सवाल का कोई सकरात्मक जवाब देकर। सवाल तुमने इस तरीके से पूछा है कि लगता है, “लक्ष्य ‘मेरे’ हैं और दुनिया उनमें बाधा डाल रही है। तो मैं क्या करूँ?” लेकिन बात थोड़ी-सी इससे अलग है। बात असल में यह है कि वो लक्ष्य भी तुम्हारे नहीं हैं, वो लक्ष्य भी दुनिया ने ही दिए हैं, इसी कारण दुनिया उनमें बाधा डाल पा रही है।

जो लक्ष्य पूर्णतया तुम्हारा होता है, दुनिया उसमें कभी बाधा डाल ही नहीं सकती।

दुनिया तुम्हारे लक्ष्यों में बाधा डाल देती है न? तुम लक्ष्य बनाते हो तो लक्ष्य बदल भी जाते हैं। उसका कारण यह है कि वो जो लक्ष्य हैं, वो तुम्हारे हैं ही नहीं, वो भी तुम्हें दुनिया ने ही दिए हैं। तुम उन्हें बस अपना मान कर बैठ गए हो कि ‘मेरे’ लक्ष्य हैं। पर वो मूलतः तुम्हारे लक्ष्य हैं ही नहीं, वो दुनिया ने ही तुम्हें दे दिए हैं और तुमने धोख़े से उन्हें अपना मान लिया है।

इस पर ग़ौर करना ईमानदारी से – जब दुनिया के दिए हुए लक्ष्यों को हटा दोगे तब शायद कुछ ऐसा मिलेगा, ऐसा बचेगा जो पूर्णतया तुम्हारा है। फिर उसमें दुनिया कोई दख़ल नहीं डाल सकती।

अभी तो तुम देखो न तुम किन बातों को अपना लक्ष्य मान कर बैठे रहते हो। तुम कहते हो कि, “मुझे अंक ज़्यादा लेकर आने हैं।” यही कहते हो न कि, "अंक ज़्यादा लाने हैं, यह मेरा लक्ष्य है"? अभी परिणाम निकले थे, तो सब घूम रहे थे। कुछ लोग निरुत्तीर्ण हुए तो उदास घूम रहे थे, महीने भर पहले की बात है। तो मैंने पूछा कि उदासी का

कारण क्या है? जवाब मिला कि परिणाम खराब आ गया है, अंक अच्छे नहीं आए हैं।

मैंने पूछा कि यह जो मार्कशीट है, अगर इसको कहीं पर ले जा कर बस रख दिया जाए, छिपा कर और यह पूरा आश्वासन हो कि ज़िन्दगी भर कोई इसे माँगेगा नहीं, किसी को दिखानी नहीं पड़ेगी, ना माँ-बाप को, ना दोस्तों को, ना किसी एम्प्लॉयर को, नियोक्ता को, किसी को यह दिखानी नहीं पड़ेगी, तो क्या तब भी इतने ही उदास रहोगे? तो वो बोले, "नहीं, तब काहे की उदासी है, तब तो कोई दिक्कत ही नहीं है। अभी दिक्कत ही यही है कि यह मार्कशीट घर पर दिखानी पड़ेगी।"

तो पढ़ने का भी जो उद्देश्य बनाया कि अंक लेकर आने हैं, वो उद्देश्य क्या तुम्हारे अपने लिए था? किसके लिए था? दूसरों को दिखाने के लिए था। वो भी तुम्हारा अपना कहाँ है? तुम कहते हो कि तुम्हें नौकरी करनी है। ईमानदारी से देखो, अगर तुमने नौकरी पाने का लक्ष्य बनाया हुआ है, तो क्या वाकई अपने लिए ही बनाया हुआ है?

तुम कहते हो पैसे कमाने हैं। तुम्हारा काम अभी ठीक चल रहा होगा, किसी का पाँच हज़ार में, किसी का चार हज़ार में, किसी का सात हज़ार में। इससे ज़्यादा तुम्हारे खर्चे होंगे क्या? पर तुम कहते हो कि इतने पैसे की नौकरी करनी है, उतने पैसे की नौकरी करनी है। वो जो पैसा तुम कमाना चाहते हो, क्या वाकई अपने लिए कमाना चाहते हो? नहीं, वो इसलिए कमाना चाहते हो ताकि तुम सबको बता सको, अन्यथा उस पैसे का तुम्हारे लिए कोई उपयोग ही नहीं है।

तुम जितने लक्ष्य बना रहे हो वो सारे-के-सारे लक्ष्य तुम्हें दुनिया ने दिए हैं और दुनिया को ही दिखाने के लिए तुम उन लक्ष्यों को पाना चाहते हो। यही कारण है कि दुनिया उनमें भाँजी भी मार जाती है।

अपने लिए तुम कुछ भी करते कहाँ हो? तुम तो जो करते हो दूसरों के लिए ही करते हो। अपने लिए तुम कुछ भी करते ही कहाँ हो, करते हो? कभी अपने लिए कुछ करके तो देखो, जो पूरे-पूरे तरीके से तुम्हारी अपनी समझ से निकला हो, फिर दुनिया परेशान नहीं कर पाएगी। बिलकुल परेशान नहीं कर पाएगी, यकीन मानो।

दुनिया अपनी राह चलती रहेगी, तुम्हें दुनिया से कोई शिकायत भी नहीं होगी तुम अपना काम करते रहोगे। बिलकुल बेपरवाह रहोगे। तुम्हें लड़ने की भी आवश्यकता नहीं पड़ेगी कि, "मैं दुनिया से लड़ रहा हूँ!"

पर पहले अपने लक्ष्यों की हक़ीक़त को देखो कि, “मेरे लक्ष्य क्या वाकई मेरे लक्ष्य हैं, या मैं किसी और के दिए हुए लक्ष्यों का पीछा कर रहा हूँ?” और अगर किसी और के दिए हुए लक्ष्यों का पीछा कर रहे हो तो तुम कभी खुश नहीं रह पाओगे। लक्ष्य किसी और के तो ख़ुशी तुम्हें कैसे हो सकती है?

मेरा एक नौकर है। मैं उसको बाज़ार भेजूँ और कहूँ, “जा ये लेकर आ।” उसने सामान लाकर अपना लक्ष्य पूरा भी कर लिया तो इसमें उसे क्या मिला? जो मिला, किसे मिला? मुझे मिला। जब लक्ष्य ही उसका नहीं तो उसे कुछ भी मिल कैसे सकता है?

अपने लक्ष्य ढूँढो। पहला लक्ष्य तो यही बनाओ कि हल्का होना है, मन को हल्का बनाना है।

प्रश्नकर्ता: सर जो हम लक्ष्य बनाते हैं वाकई में वे हमारे नहीं हैं, पर उससे भी तो हमारा फायदा हो रहा है।

आचार्य: तुम्हें कैसे पता कि तुम्हारा फायदा हो रहा है? एक छोटा-सा बच्चा होता है, उसे आवश्यकता होती है कि कोई दूसरा उसका फायदा-नुकसान सोचे। एक छोटा-सा बच्चा होता है, पाँच साल का, उसे बिलकुल ज़रूरत होती है कि कोई उसकी उंगली थामे। पर तुम में से कोई यहाँ छोटा-सा बच्चा नहीं है। तुम में से कोई नहीं है यहाँ पाँच साल का, आठ साल का। कोई अठारह का है यहाँ पर, कोई बीस का है। बीस से ऊपर वाले भी होंगे।

तुम्हारा फ़ायदा कहाँ है कहाँ नहीं, ये खुद जानो न, या अभी भी किसी उंगली पकड़ कर चलने का इरादा है? शारीरिक रूप से तो पूरी तरह युवा हो गए हो, पूरे तरीके से, पर मानसिक रूप से डरते हो कि, "हम बड़े कैसे हो जाएँ?" तो मानसिक रूप से अभी पाँच साल का बच्चा बने रहना चाहते हो कि, "कोई और आ कर बता दे कि मैं क्या करूँ और क्या ना करूँ।"

शरीर पूरी तरह से गवाही दे रहा है, चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा है कि आप पूर्ण रूप से बड़े हो गए है, आप पुरुष

हैं, आप स्त्री हैं, लेकिन मन धोखे में रहना चाहता है। मन कहता है, “नहीं, नहीं कोई और हमारे हाथ थाम कर चले, तभी ठीक है।”

तुम्हारी उम्र में भगत सिंह फाँसी पर चढ़ चुके थे। वो किसी से पूछने गए थे कि, “मैं बम फेंकूँ तो इसमें मेरा फ़ायदा है या नुकसान है?” और तुम्हारे तर्क पर चले होते तो हो गया था काम। तुम्हारे तर्क पर चले होते तो फिर फ़ोन मिला रहे होते कि, "पापा, बम फेकें या ना फेकें?"

अपने पाँव पर खड़े हो, अपनी आँखों से देखो, अपने दिमाग से समझो। कोई बहानेबाज़ी नहीं चलेगी। पर क्या करें आदतें बिगड़ गई हैं। ज़िन्दगी भर बैसाखी पर चले हैं, अब अपने पाँव पर खड़ा होने को बोलो तो बड़ा कष्ट होता है। हम तो बच्चे ही बने रहना चाहते हैं। बच्चे बने रहने में बड़ा सुख है।

बहुत पहले एक फ़िल्म आई थी, ‘राजा-बाबू’। उसमें शक्ति कपूर क्या बोलता है? “मैं तो नन्हा-सा, मुन्ना-सा, छोटा-सा बच्चा हूँ”, और यही तुम्हारा नारा है। यह तुम्हारे जीवन का नारा है। उसका जो चरित्र था वो यही कहता रहता है, “मैं तो नन्हा-सा, मुन्ना-सा, छोटा-सा बच्चा हूँ।”

तो रोज़ सुबह उठा करो और यही नारा लगाया करो- “हम तो शिशु हैं अभी, शिशु छोटे-छोटे।” मानसिक रूप से तुम बच्चे ही बने रहना चाहते हो। मानसिक रूप से बड़े नहीं होना चाहते। और कोई बड़े होने की बात करे तो भाग और लोगे।

जवानी यह सब बातें नहीं करती कि दूसरे हमारा फ़ायदा देखें। जवानी अपना रास्ता खुद बनाती है। वो आलसी नहीं होती, पहाड़ काट डालती है। झुंड में नहीं चलती जवानी, शेर की तरह चलती है। अकेले होने के डर से दोस्त-यार नहीं इकट्ठा नहीं करती।

शेर देखा है कभी? शान से अकेले चल रहा होता है। और भेड़ें क्या करती हैं? (व्यंग्य करते हुए) “आओ, आओ, आओ, सब मिल कर मास बंक करते हैं।” शेर बनना है? बनना है शेरनी, जवान शेरनी?

इंसान शेरों का शेर होता है। शेर तो फिर भी अपनी आदतों का ग़ुलाम होता है। इंसान में तो यह ताक़त है कि वो आदतों का भी ग़ुलाम ना हो। शेरों का शेर है इंसान।

....

(उत्तर प्रदेश, 2013)

लड़का-लड़की के खेल में जवानी की बर्बादी

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, आज से छह साल पहले एक लड़की की ओर आकर्षित हुआ। मेरे प्रेम की गुणवत्ता वही थी जो सामान्यतया मेरी उम्र के किसी भी लड़के की होती है। किन्तु उसी लड़की का पिछले वर्ष किसी दूसरे लड़के से प्रेम-सम्बन्ध हो गया। मैं पिछले पाँच वर्षों से सिविल सर्विसेज़ की परीक्षा की तैयारी कर रहा हूँ, और लगातार असफल हो रहा हूँ।

मैं इससे कैसे बाहर आऊँ? कृपया मेरा मार्गदर्शन करें।

आचार्य प्रशांत: सब काम करोगे, मेहनत भी कर लोगे, अगर मज़े में बैठकर खाने का आसरा न हो तो।

सवाल बहुत हैं आज और समय भी कम है, तो मुझे ज़रा बात कम शब्दों में चोट देकर बोलनी पड़ेगी।

कोई नहीं अपनी जवानी के पाँच साल ख़राब करे, अगर उसके पीछे लोग न हों जो उसको बैठाकर खिला रहे हों। हिम्मत ही नहीं पड़ेगी। ये बात न प्रेम की है, न भावनाओं की है, न प्रतियोगी परीक्षा में असफलता की है। बात सीधी-सीधी ये है कि अधिकांश ऐसे मामलों में पीछे माँ-बाप बैठे होते हैं, जो लड़के को घर में बैठाकर आसरा देने तैयार होते हैं।

और इसीलिए हिन्दुस्तान में ऐसे मामलों में जो प्रतिभागी होता है वो लड़का ही होता है। अभी भी लड़कियों को तो पाँच-पाँच दस-दस साल घर पर बैठाया नहीं जाता, कि तुम बैठकर सिविल सर्विसेज़ की परीक्षा की तैयारी करो। लड़के को कह दिया जाता है, "हाँ लाल, आओ बैठ जाओ, सुबह पराँठा भी मिल जाएगा, दोपहर का बढ़िया खाना, और रात को घी लगी रोटी। और बताओ क्या चाहिए?"

फ़िर ये खेल ऐसा है जिसमें परिणाम साल में एक बार आता है, और पूरे ज़माने को पहले ही पता है कि परिणाम में असफलता की सम्भावना ज़्यादा है। तो तुम असफल हो भी गए तो कोई लानतें नहीं भेजता, उँगली नहीं उठाता, क्योंकि इन परीक्षाओं में बैठने वाले लोगों में निन्यानवे-दशमलव-नौ प्रतिशत लोगों को असफल होना ही है।

दस-बीस लाख लोग बैठ रहे हैं, रिक्त पद होंगे आठ-सौ, हज़ार, तो लगा लो प्रतिशत। तो सब को पहले ही पता है कि सम्भावना पूरी-पूरी इसी की है कि लाल का चयन होगा नहीं। अब चयन न होने पर तुम दस लाख लोगों में दो हज़ारवाँ स्थान रखते हो, चाहे नौ लाखवाँ स्थान रखते हो, परीक्षा परिणाम तुम्हें बस इतना ही बता देगा कि, "नहीं श्रीमान, खेद की बात है कि आपका चयन नहीं हुआ।"

फ़िर इस आधार पर तो आपसे उत्तर माँगे नहीं जाएँगे कि, "तू सालभर घर पर बैठा था, दस-लाख लोगों में तेरा नौ-लाखवाँ स्थान क्यों आया है?" वहाँ तो फिर अचयनित-अचयनित, सब बराबर। अगर हज़ार रिक्तताएँ हैं, जिसकी स्थिति या श्रेणी दो-हज़ार है, और जिसकी श्रेणी नौ-लाख है, वो सब एक बराबर हो गए न। दोनों को ही कुछ नहीं मिला। यहाँ तो ये है कि या तो अन्दर हो, या बाहर हो। बीच वाले की तो कोई जगह नहीं।

तो ठीक है, आपको भी पता है कि सालभर घर पर बैठो, जब परीक्षा परिणाम आएगा तो कह देना, "गिरते हैं शह सवार ही मैदान-ए-जंग में। अरे हमने यू.पी.एस.सी. की तैयारी करी थी। उसमें तो बड़े-बड़े असफल हो जाते हैं। तो

हम असफल हो गए, ये कोई लानत की बात है? इतने लोग बैठे थे, वो भी तो असफल रहे। हम भी असफल हो गए।”

कोई रोज़ तो रिपोर्टिंग करनी नहीं पड़ती कि, “बेटा, आज कितनी दूरी तय की है? आज कितनी पढ़ाई, कितना काम किया?” सालभर के बाद एक दिन के बाद आता है परिणाम, वो एक दिन झेल जाना। वो एक दिन घर में मातम मन लेगा, रौशनी नहीं जलेगी, रोटी नहीं बनेगी। एक ही दिन की बात है।

यही रोज़-रोज़ परिणाम आते तो दिक्कत हो जाती। सिविल सर्विसेज़ परीक्षा का प्रारूप कुछ ऐसा होता कि हर दस दिन में एक परीक्षा होगी, और हर दस दिन में उसका परिणाम निकलेगा, तो परीक्षार्थी ही दस प्रतिशत रह जाएँ। मैं बता रहा हूँ। क्योंकि हर दस दिन में पोल खुलने लगेगी। हर दस दिन में पोल खुलने लगेगी कि साहब कितने पानी में हैं। अभी तो सालभर आराम करने का लाइसेंस मिल जाता है।

मुझे माफ़ करना, तुमने बड़ी आस्था से मुझसे प्रश्न पूछा, और मैं बड़े कड़वे शब्दों में बोल रहा हूँ। पर तुम्हारे हित के लिए ही बोल रहा हूँ।

अब उसमें वो सब जो लड़की-लड़के के खेल हैं, ये बहुत समय माँगते हैं भाई। जिसके जीवन में ये सब खेल चल रहे हैं, समझ लेना कि शहंशाह है, नवाब है। जो कोई किसी सार्थक लक्ष्य की ओर लगा हो, उसको समय कैसे मिल जाएगा ये सब करने का? कौन-सी लड़की तुम्हारे साथ रह लेगी, अगर तुम दिन का एक घण्टा-दो घण्टा उसको नहीं दे रहे हो तो? भाग जाएगी तुरन्त।

गर्लफ्रेंड-बॉयफ्रेंड इत्यादि का जीवन में आने का अर्थ ही है कि जो तुम्हारे दिन के दस-बारह घण्टे जागृति के होते हैं, उसमें दो-चार घण्टे तो उसके नाम हो गए। मुझे दिखा दो ऐसी गर्लफ्रेंड बनाकर जिससे तुम पन्द्रह दिन में पन्द्रह मिनट बात करते हो। दिखा दो।

‘गर्लफ्रेंड’ का मतलब ही यही होता है—“मैंने समय तुझको दिया।”

“दिल तुझको दिया” नहीं, “समय तुझको दिया।”

और जब समय इधर दिया, तो समय उधर कैसे दोगे बेटा? यही करना है तो यही कर लो। फिर अफ़सोस क्यों मना रहे हो कि वो किसी और के साथ चली गई? तुम भी चले जाओ किसी और के साथ।

ये खेल खेलने के लिए तो जितने जिस्म हैं सब बेताब हैं। कौन है जिसको नहीं मिलेगा? एक नहीं मिला, दूसरा मिलेगा। जो नहीं मिल रहा, उससे बेहतर मिलेगा। दुनिया में जिस्मों की क्या कमी है? यही खेल खेलना है तो फ़िर यही खेल खेलो। फिर क्यों पूछ रहे हो, “आचार्य जी, लक्ष्य बनाया है, लक्ष्य बनाया है मिल नहीं रहा”?

लक्ष्य तो तुम्हारा कुछ और है, वो कहीं चली गई है तो जाने दो न। जो भी कर रही है करने दो।

ये सब खेल तो ऐसे ही हैं। सुई, टायर, रिम, आलू — जो मिल जाए वही सही। मुझे क्या पता कि ये (अपना नारियल पानी का गिलास उठाते हुए) नारियल पानी किस ब्राण्ड का है। मुझे क्या पता कि ये जिस डब्बे से आ रहा है, उसका सीरियल नम्बर (क्रमांक) क्या था। ये डब्बा नहीं, तो बगल वाला डब्बा सही। मैं रोने थोड़े ही बैठूँगा कि, “ये वाला डब्बा नहीं मिला, तो ये वाला डब्बा क्यों?”

किसी चीज़ में ज़रा विशिष्टता हो, अद्वितीयता हो, सच्चाई हो, तो उसके लिए रोया जाए। ब्लड बैंक में ख़ून होता है, ख़ून-ख़ून एक बराबर। इसी तरह से शरीर के बाक़ी सब पदार्थ भी, रसायन, हॉर्मोन्स सब बराबर। जब खेल ही हॉर्मोन्स का हो तो उसमें रोना क्या?

या ब्लड-बैंक में जाकर रोते हो कि, “मुझे तो मेरी मेहबूबा वाला ही ख़ून चाहिए क्योंकि वो मेरे दिल में बैठी है”? रोते हो क्या? रोते हो? मर रहे होओगे, तो क्या ब्लड-बैंक में जाकर भाव खाओगे कि, “नहीं, सुन्दर लड़की का खून दो, दिल में जाएगा। दिल में तो मेरे हूर ही बैठनी चाहिए”?

ये सब खेल चला करते हैं, और इनमें भारत की जवानी बर्बाद हो रही है। अब तो परीक्षा लिखने की उम्र भी बढ़ा दी है। पहले शायद अट्ठाईस पर रोक देते थे, आज से बीस साल पहले। अब शायद बढ़ाकर बत्तीस-पैंतीस, या चालीस साल भी कर दी है। जवानी जलाने का इंतज़ाम अब पूरा और पक्का है, बस घर पर माँ-बाप होने चाहिए आलू-गोभी खिलाने वाले।

जो उम्र ऊँचे-से-ऊँचे काम करने में, चुनौतियाँ स्वीकार करने में, जीवन की प्रतिमा को रूप और सौन्दर्य देने में जानी चाहिए, वो जा रही है सरकारी नौकरियों की कोचिंग के दरवाज़े खटखटाते हुए।

“सरकारी नौकरी मिल जाए, सरकारी नौकरी मिल जाए।”

अगर कोई गणना करे कि इस पूरी चीज़ की आर्थिक कीमत कितनी है, ये जो नुकसान है इसको कोई मोनेटाइज (मुद्रीकरण) करके देखे, तो जो नुकसान है वो न जाने कितने अरबों का आएगा। हम छोटी-से-छोटी बात पर गणना कर लेते हैं कि इस चीज़ से जी.डी.पी. (सकल घरेलू उत्पाद) कितना पीछे हो गया। अगर इस चीज़ की गणना की जाए कि सरकारी नौकरी की बीमारी से भारत कितनी मात खा रहा है, तो हम चौंक जाएँगे।

मैं कोई जी.डी.पी. का कायल नहीं हूँ कि जी.डी.पी. बढ़ना चाहिए बहुत। पर मैं जीवन में सौन्दर्य और ऊर्जा का तो कायल हूँ न। मैं इस बात की अवहेलना कैसे कर दूँ कि बीस साल वाले, पच्चीस साल वाले, छोटे-छोटे घुटन भरे कमरों में घुसे हुए पाँच-पाँच साल तक और “कम्पटीसन” की तैयारी कर रहे हैं।

“क्या शुक्ला जी, क्या करता है लड़का?”

“कम्पटीसन की तैयारी करता है।”

आधा कैरियर तो तुमने प्रतियोगी परीक्षा की तैयारी करने में गुज़ार दिया। चालीस साल की उम्र तक अगर तुम

कम्पटीसन कर रहे हो, तो आजकल पैंतालीस-पचास में तो लोग सेवानिवृत्त होने की सोचने लगते हैं।

परीक्षा देनी है, तो समय बाँधो अपने लिए — एक साल, या दो साल। एक प्रयास, या दो प्रयास, उससे ज़्यादा नहीं। बिलकुल अपने ऊपर प्रतिबन्ध रख दो कि ठीक है सिविल सर्विसेज़ देना है, तो अधिक-से-अधिक दो प्रयास, उससे आगे नहीं। और दो बार में न हो चयन, तो ईमानदारी से झोला उठाओ, कमरा खाली करो, बाहर निकलो। कोई काम-धन्धा ढूँढो अपने लिए। ये घर की रोटी तोड़ना बिलकुल ठीक नहीं है।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2019)

जवान हो, वाकई ?

प्रश्नकर्ता: कई बार मुझे ऐसा लगता है कि 'ज़िन्दगी का उद्देश्य क्या है? वही स्कूल जाना, कॉलेज आना, अच्छे मार्क्स लाना, फिर अच्छी नौकरी पाना, एक विलासी ज़िन्दगी बिताना। बस? क्या यही ज़िन्दगी का उद्देश्य है? और जब ये सोचता हूँ तो काफी खालीपन सा आ जाता है। उसके बाद कुछ करने का मन ही नहीं करता।'

आचार्य प्रशांत: तुम बड़े किस्मत वाले हो कि तुम्हें वह खालीपन महसूस होता है। ज़्यादातर लोगों को यह अहसास भी नहीं होता कि ज़िन्दगी कितनी खाली है। तुम्हें अधूरेपन का, खालीपन का अहसास होता है यही बड़ा सौभाग्य है। क्योंकि इससे शायद आगे का रास्ता निकल सकता है, कुछ बात बन सकती है। जिनको पता ही नहीं चल रहा हो उनका क्या होगा? जिस बीमार को यह पता ही न हो कि मैं बीमार हूँ, उसका मरना पक्का है; इलाज की कोई संभावना नहीं है।

हम जैसे जीते हैं उन तरीकों में यह होना ही है कि सच हमें छू जाए और अहसास करा जाए कि मामला गड़बड़ है। यह ऐसी सी बात है कि जैसे एक अँधा आदमी हो जिसने अपने आप को यह यकीन दिला रखा हो कि, "मैं अँधा नहीं हूँ, मुझे सब दिखाई पड़ता है।" और उसने पूछ-पूछ कर रट भी लिया है सब कुछ। उसने रट लिया है कि कौन सी सड़क कहाँ जाती है और कितने कदम चल लें तो कहाँ पहुँच जाएँगे। उसने रट लिया है कि आसमान का रंग नीला होता है और नीला जैसा कोई शब्द होता है। उसने सारे रास्ते, सारे मकान, सारी दुकान – सब रट लिए हैं।

तो उस से तुम पूछो कि "यहाँ से यह चौराहा कितनी दूर है?" वह बता देगा जैसे उसे सब दिख रहा हो। लेकिन चलते-चलते अचानक रास्ते में एक पत्थर आ जाता है और इस पत्थर का उसे पहले से नहीं पता। उसने रट नहीं रखा कि रास्ते में एक छोटा सा पत्थर भी पड़ा है। पत्थर से चोट लगती है और वह लड़खड़ा कर गिरता है। यह चोट उसे बताने के लिए काफी है कि तुम अन्धे हो। तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता। जितनी रटने वाली चीज़ें थी वह तो सब रट ली पर सच रटा नहीं जा सकता। तुम्हें रास्ते का पत्थर ही नहीं दिखाई पड़ता। तुम अंधे हो।

यह वास्तविकता की ठोकर है जो उसे लगती है। पर अँधा खड़ा होता है, कपड़े झाड़ता है और आगे बढ़ जाता है। वो अपने आप को बताना ही नहीं चाहता कि मैं अँधा हूँ। ये ठोकरें हम सबको लगती हैं। ज़िन्दगी हम सबको यह अहसास कराती ही रहती है कि देखो तुम क्या कर रहे हो! यह बेवकूफी है! पर हम अंधे की तरह ही उठते हैं, कपड़े झाड़ते हैं और आगे बढ़ जाते हैं जैसे कुछ हुआ ही ना हो।

और ज़िन्दगी हमें रोज़ देती है ठोकरें। हम उन ठोकरों से भी सीखने को तैयार नहीं हैं। क्योंकि सीखने के लिए सबसे पहले यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, हाँ हमारी आँखें बंद हैं। थोड़ा कष्ट होता है उसमें, अहंकार को चोट लगती है। रिश्ते नातों में खिचाव आता है। तो हम यह स्वीकार नहीं करना चाहते कि आँखें बंद हैं हमारी। हम कहते हैं, “नहीं-नहीं, ठोकर थोड़े ही लगी है। मैं तो यूँ ही खुद ही फिसल गया था। यह कोई बड़ी बात नहीं। मुझे सब दिख रहा है। मुझे सब समझ में आता है, सब दिखता है। कोई शंकाएँ नहीं हैं।”

तो सबसे पहले तो शुक्रिया अदा करो कि तुम्हें बेचैनी अभी अनुभव होती है। एक समय ऐसा आ सकता है जब तुम्हें इसका अनुभव होना बंद हो जाए। यह एक तरह की पुकार है। इस पर ध्यान दोगे तो ज़िन्दगी बदल जाएगी, और ध्यान नहीं दोगे तो यह पुकार धीरे-धीरे कम हो जाएगी और आखिर में गायब हो जाएगी।

मुक्तिबोध नाम से एक कवि हुआ है। उसकी एक पंक्ति है कि, 'मुझे पुकारती हुई पुकार खो गई कहीं।' तो तुम भी क्योंकि जवान हो और पक नहीं गए हो ज़िन्दगी से, इसलिए वह पुकार आती है और अहसास कराती है कि कुछ गलत हो रहा है। कुछ बहुत गलत हो रहा है। यहीं तीस-चालीस साल के हो जाओगे तो पुकार आनी भी बंद हो जाएगी। वो पुकार भी कहेगी कि, "अब तो इसने ज़िन्दगी ख़राब कर ही ली अब क्या करूँ।"

अभी कुछ उम्मीद बाकी है इसलिए वह पुकार आती है। उसके बाद एक सहूलियत वाली नौकरी लेकर बैठ जाना, एक गोरी-चिट्टी बीवी लेकर बैठ जाना, एक-दो बच्चे पैदा कर लेना। फिर कोई पुकार-वुकार नहीं आएगी। सुबह ऑफिस जाना और शाम को लौट आना, खाना-पीना, टी.वी. देखना, बिस्तर पर पड़ जाना और अगले दिन फिर यही; कोई पुकार नहीं। देखते नहीं हो घरों में कैसे चलता है? उन्हें कोई पुकार आती है? उन्हें कोई खालीपन लगता है। वो भरे-पूरे हैं। सब ठीक! मौज! ज़िन्दगी ऐसी ही होती है!

अभी तुमको लग रहा है कि, "ये मैं कर क्या रहा हूँ, एक कहानी लिख दी गई है और मैं उसी पर चल रहा हूँ और वह कहानी सबके लिए लिख दी गई है; जैसे मैं किसी कथा का चरित्र हूँ जिसके संवाद पहले से ही तैयार हैं; जैसे मैं कोई कठपुतली हूँ जिसको करना क्या है वह पहले से ही तय कर दिया गया है।"

पैदा हो, एक धर्म बनाओ, कुछ मान्यताएँ रखो, कुछ दिमाग में आदर्श भर लो, इस-इस तरह की पढ़ाई करो, फिर ऐसा-वैसा कोर्स कर लो, उसके बाद एम.बी.ए कर लो, या कोई नौकरी कर लो, या सॉफ्टवेयर कंपनी में काम कर लो, फिर शादी कर लो, घर बसा लो, सामान खरीद लो, फर्नीचर खरीद लो, कार खरीद लो, फिर बच्चों का स्कूल में एडमिशन कराओ और फिर उनको भी वही सब कराओ और यह सब करके एक दिन... मर जाओ!

तो पहले से ही तो सब कुछ पता है। तुम काहे के लिए इतनी मेहनत कर रहे हो? यह तो होन- ही-होना है। जितने बैठे हैं उन सबके साथ होना है। तो जब यही होना है तो तुम परेशान किस लिए हो? यह पक्का है यही होगा। सबके साथ यही हो रहा है। सबके साथ यही होगा। जब तुम सब कुछ वही करते आए जो तुम्हारी स्क्रिप्ट में लिखा है तो तुम अब कैसे अलग हो जाओगे? तुम किन ख्वाबों में जी रहे हो? "नहीं-नहीं, मेरी ज़िन्दगी बिलकुल अलग होगी। नहीं-नहीं, मैं कुछ ख़ास करके दिखाऊँगा।"

कैसे ख़ास करके दिखा लोगे? आज तक तो तुम वही करते रहे जैसा समाज ने बताया, जैसा परिवार ने बताया, अब कैसे कुछ ख़ास हो जाएगा? पुराने रास्तों पर चलते हुए नई मंज़िल पर कैसे पहुँच जाओगे?

पर एक ही है जो कह रहा है कि, “मुझे इसकी व्यर्थता दिखाई देती है”, बाकियों को कुछ नहीं दिखाई देता? “इग्नोरेंस इज़ ब्लिस (अज्ञान ही आनंद है)।” आँख बंद करे रहो - कबूतर का तर्क़ यही होता है। "बिल्ली कहाँ है? दिखाई नहीं दे रही। दिखाई नहीं दे रही तो है ही नहीं।" हमारा भी वही तर्क़ है।

और जिसको ज़रा भी दिखाई देगा, वह परेशान ही नहीं होगा, वह पागल हो जाएगा। वह रो उठेगा, कहेगा, “मैं कर क्या रहा हूँ? एक ज़िन्दगी है मेरी, उसके साथ मैं क्या होने दे रहा हूँ? मैं अनुमति कैसे दे सकता हूँ कि मेरे साथ वही सब कुछ होता रहे जो एक किसी मशीन के साथ होता है? उसका डिज़ाइन भी कोई और बना दे, प्रोग्राम भी कोई और, उसके बटन भी कोई और दबाए, और यह भी कोई और तय करे कि इसको डिस्पोस कब करना है।”

अगर तुम ज़रा भी जागोगे और अपने प्रति ज़रा भी ईमानदारी है, तो जो बेचैनी उसने कही, वह तुम सबको अनुभव होगी। और अगर नहीं अनुभव हो रही तो तुम सब मुर्दा हो। और तुम्हें पूछना होगा अपने आप से कि, "ऐसी कौन सी मजबूरी है जो मैं अपने साथ यह सब होने दे रहा हूँ, या होने दे रही हूँ?" अगर तुम लड़की हो तो जो तुम्हारे लिए पटकथा लिखी गई है वह और भी पक्की है, उससे तो ज़रा भी दाएँ-बाएँ नहीं जा पाओगी। पर कहाँ तुम ये सवाल करते कि, "मैं यह क्यों...?" और अगर जीना यही है तो जीना क्यों? फिर मर ही जाते हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जो अस्तित्ववादी विचारक हुए वो घूम फिर कर के एक ही सवाल पर आते थे – जीना क्यों? अगर यही जीवन है तो जिए क्यों? या तो जीवन कुछ और होना चाहिए वरना हमें जीने में कोई रुचि नहीं।

या तो कोई और जीवन हो। अल्बर्ट कामु का नाम सुना होगा। ‘मिथ ऑफ़ सिसीफस’ में उसने एक कहानी कही। वह कहता है कि, "एक पहाड़ है, ऊँचा। और मेरा काम यही है कि रोज़ाना एक पत्थर नीचे से ले जाओ उस पहाड़ की चोटी तक और जैसे ही वह पत्थर उस पहाड़ की चोटी पर पहुँचता है, पत्थर वापस आ जाता है नीचे। और मेरा काम है कि फिर अगले दिन मैं सुबह पत्थर चढ़ाऊँ और वह नीचे आए। और यही मेरी ज़िन्दगी है और रोज़ मुझे यही करना है। मैं जीऊँ क्यों?"

रोज़ मुझे कुछ ऐसा करना है जिसका कोई अर्थ नहीं, कोई प्रयोजन नहीं। रोज़ एक सी ज़िन्दगी है जो अपने आप को दोहराती जा रही है, दोहराती जा रही है। और यह करते हुए मुझे अंततः मर ही जाना है। और अगर ऐसे मर ही जाना है तो आज ही क्यों नहीं?

या तो कुछ नया हो जीवन में। ऐसा जो इस दोहराव से आगे का है, जिसमें बोरियत नहीं है। ज़िन्दगी या तो मौज हो, आनंद हो,मस्ती हो, मुक्ति हो; नहीं तो कुछ नहीं होनी चाहिए। एक घिसा-पिटा जीवन। यह कोई जीवन है? और इसमें तुम्हें चंद, दो-चार ख़ुशियाँ मिल जाती हैं जैसे किसी पालतू जानवर के सामने रोटी फ़ेंक दी जाए। कि, "जी, इसी बहाने तू जी लेगा।" वैसे ही तुम्हें होली-दीवाली थोड़ी ख़ुशियाँ फ़ेंक दी जाती हैं। "जी ले! तीन सौ पैसठ दिनों में दो-चार दिन तू भी जी ले।"

और मैं समझता हूँ कि एक जवान आदमी को सबसे पहले सवाल यही उठाना चाहिए। जवान इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि बच्चे को यह सवाल उठेगा नहीं। अभी वह नासमझ है, तुम नहीं हो नासमझ। और अभी तुम इतने बूढ़े भी नहीं हो गए कि कहो कि उम्र बीत गई। न तुम बच्चे हो और न अभी बहुत बड़े हो गए। तुम जवान हो। और व्यर्थ है वह जवानी जिसे अपनी विवशता नहीं दिखाई देती।

ऑस्कर वाइल्ड का कथन था, "*युथ इज़ लॉस्ट ऑन द यंग*"।

जवानी घटती ही नहीं, होती ही नहीं। हम या तो बच्चे ही रह जाते हैं, कि, "मैं तो अभी मम्मी की बच्ची ही हूँ।" या हम बहुत बूढ़े हो जाते हैं कि, "देखो अब हम बहुत समझदार हो गए हैं ये क्रांति वगैरह की बातें तो करो मत। चुप-चाप साधारण जीवन जी लो नहीं तो पीट दिए जाओगे।"

तो या तो हम बच्चे ही हैं, कि घर से बाहर निकलना है तो "चला जाऊँ?" चार कदम भी बाहर जाना है तो "कैसे?" तो या तो हम बच्चे ही हैं या हम बूढ़े हो गए हैं। जवानी बीच में आई ही नहीं, बाईपास हो गई। यह बड़ी विचित्र घटना घटी है हमारे साथ। बच्चा बूढ़ा हो गया बिना जवान हुए।

और मैं खोजता हूँ, दुनिया भर में जाता हूँ, कॉलेज में जाता हूँ, यूनिवर्सिटी में जाता हूँ और खोजता हूँ कि मुझे जवान आदमी दिखाई दे, मुझे दिखता नहीं। मुझे अर्धविकसित लोग दिखाई देते हैं या मुर्दा। ऐसे दिखाई देते हैं जिनका अभी विकास ही नहीं हुआ। वो अभी ज़रा से ही हैं। हाँ, दाढ़ी मूँछ आ गई है, कद बढ़ गया है पर हैं ज़रा से ही। या मुझे बूढ़े दिखाई देते हैं जिनमें अब कोई ऊर्जा शेष नहीं बची। जो अब कुछ कर ही नहीं सकते। जिनको अब बस मौत का इंतज़ार है। जवान आदमी दिखाई ही नहीं देता।

थोड़ी देर पहले एक चुनौती दी थी, अब एक और दे रहा हूँ। सिर्फ शरीर से ही जवान रहोगे या वास्तव में होना है? शरीर की जवानी किसी काम की नहीं होती। एक युवा मन चाहिए। वो आएगा या ऐसे ही रहना है? "मैं तो नन्हा-सा, छोटा-सा बच्चा हूँ।”

जिस दिन जवान होओगे उस दिन बड़ी बेचैनी उठेगी। उस दिन कहोगे, "मैं समर्थ, काबिल, जवान; मुझे इतनी ज़ंजीरें पहना रखी हैं? मैं बर्दाश्त करूँगा कभी इन्हें?" बिलकुल आग उठेगी। और वह उस बेचैनी को जला देगी, गहराई से जला देगी। वो उस सबको जला देगी जो नकली है।

ये नकली तुम्हें मिल गया है, मिलना पक्का है। यह परवरिश है। असहाय होते हो न। एक छोटा बच्चा कर भी क्या सकता है? उस पर सौ मान्यताएँ डाल दी जाती हैं। समाज जहाँ चाहता है उसे उस जगह भेज देता है। जो चाहता है वैसा धर्म थमा देता है। उसके मन में जिस तरीके की चाहता है बातें भर देता है। और यह सब चलता रहता है। चौदह की उम्र तक चलता रहता है। क्योंकि तुम असहाय होते हो। कर ही क्या सकते हो?

पर उसके बाद ये सब जो कूड़ा-कचरा तुम्हें दे दिया होता है इसको जलाने का वक़्त आता है। और अगर उसे जला नहीं रहे हो तो जवान हो नहीं। यह बात मैं बारह साल के बच्चे से नहीं कहूँगा। क्योंकि उसका निर्भर होना पक्का है दूसरों पर। जब दूसरों पर निर्भर हो तो दूसरों के कहे अनुसार चलना भी पड़ेगा। तो इसलिए मैं उस से यह बात करूँगा ही नहीं।

यही है बेचैनी। जो सब भरा हुआ है न मन में। जो सब दे दिया है न दूसरों ने, वही खालीपन है। दूसरों का बहुत कुछ

है, अपने का अभाव है।

यही वह रिक्तता है। और यह रिक्तता कुछ लाने से नहीं भरेगी, यह जलाने से भरेगी। जो गन्दगी है उसे जला दो। किसी चीज़ की ज़रुरत नहीं है। जो पहले ही तुम्हारे मन में बैठा दिया गया है उसे जला दो। सारी बेचैनी हट जाएगी। सब तोड़ दो क्योंकि जो कुछ है वह ज़ंजीरें ही हैं। जो भी टूटेगा वही ज़ंजीर है। तोड़ दो उसे। बिलकुल बेख़ौफ़ हो कर। मत सोचना कि यह चुनूँ या वह। कुछ बचाने के लिए नहीं है। जाने दो, सब जाने दो।

जवान होना बच्चों का खेल नहीं है।

....

(उत्तर प्रदेश, 2013)

लिखनी है नयी कहानी?

प्रश्नकर्ता: जिस ललक और आग की आपने बात की है, वो कभी-कभी उठती है और मन करता है कि भाग जाऊँ, ऐसी जगह जहाँ कोई ना हो। पर ये समाज ऐसा है कि उसमें सब कुछ निभाना भी है। इन सभी बातों में आपकी निजता खो जाती है। इस निजता को कैसे कायम रखें?

आचार्य प्रशांत: आँख खोलकर परिणाम देखते चलो और अपने आसपास के लोगों को देखते चलो।

मेरा एक साथी था, उसके माँ-बाप रात-दिन उसको बोलते रहते थे कि शादी कर ले। उसने एक दिन उनसे कहा, “तुम दोनों को देखता हूँ, उसके बाद भी तुम्हें लगता है कि मैं शादी कर सकता हूँ?” उसने ये बात मज़ाक में नहीं कही थी। उसने कहा, “परिणाम सामने है। अगर शादी का अर्थ ये है जो तुम दोनों मुझे रात-दिन दिखाते हो, और जैसा जीवन तुम दोनों ने जिया है, भले ही होंगे मेरे माँ-बाप, पर मुझे दिख तो रहा है कि कैसे हो, तो मुझे नहीं करनी शादी। कहाँ है प्रेम? निभा रहे हो, वो अलग बात है। निभाना प्रेम नहीं है, कर्त्तव्य पूरा करना प्रेम नहीं है। प्रेम कहाँ है? तो अगर यह शादी है तो मुझे नहीं करनी शादी।”

तो तुम भी ऐसे ही परिणाम देख लो कि अगर तुम उस आवाज़ को ऐसे ही दबाती चली, तो क्या होगा। आँख खोलो और परिणाम देखती चलो, देखो चारों तरफ कि दुनिया कैसी है। और यही तुम्हारा भी भविष्य है, अगर बचती रहीं। यह जो सड़क पर आदमी चलता है जिसको तुम ‘आम आदमी’ बोलते हो, उसकी शक्ल ध्यान से देखो। वो तुम हो। और अगर वैसा ही हो जाना है, तो फिर कोई बात नहीं।

ये जो अपार्टमेंट्स में एक के बगल एक परिवार बैठे हुए हैं, उसमें माता हैं, पिता हैं, उनके बच्चे हैं, दिन-रात की कलह हैं, संघर्ष हैं, जाओ और उनकी ज़िंदगी को ध्यान से देखो। वो तुम्हारी ज़िंदगी है। और अगर वही चाहिए, अगर वही स्वीकार्य है, तो बढ़ो आगे, किसने रोका है? क्योंकि जा तो उसी दिशा में रहे हो, जीवन उसी दिशा में ही बढ़ रहा है और बहुत तेज़ी से बढ़ रहा है। बहुत समय नहीं है अब तुम्हारे पास। तुम्हारी भी कहानी अब वही सब मोड़ लेने वाली है। इच्छुक हो, तो बढ़ो आगे।

बिलकुल तयशुदा कहानी है, उसमें कोई बड़े उतार-चढ़ाव नहीं हैं। उस कहानी में क्या-क्या आता है बता देता हूँ। उस कहानी में आता है थोड़ी बहुत शिक्षा – कुछ सालों की, सात फेरे, मैटरनिटी वॉर्ड, दूध की बोतलें, घर पर बैठना, पैसे को लेकर चिक-चिक, दुनिया की देखा-देखी घर को फर्नीचर से भरना, क़र्ज़ लेकर मकान खरीदना, रोज़ आईने में देखना कि उम्र बढ़ रही है।

एक दिन पाना कि चेहरे पर झुर्रियाँ आ गईं हैं, बीतते हुए जीवन की व्यर्थता देखना, और अपने आप को भुलावा देना, और जब सच साफ़-साफ़ दिखाई देने लगे तो टेलीविजन में मुँह डाल देना कि बहाना मिल जाए समय काटने का; और जब मन बिलकुल उदास हो तो किसी शॉपिंग मॉल में जाकर बैठ जाना ताकि लगे कि जीवन में कुछ है, ताकि लगे कि जो कमाई कर रहे हैं वो व्यर्थ नहीं है। हम इससे कमीज़ ख़रीद सकते हैं, प्रेशर कुकर खरीद सकते हैं, नए

मॉडल का फ्रिज खरीद सकते हैं, नई कार आ सकती है। ताकि जीवन को बहाने मिलते रहें आगे बढ़ने के।

तीज-त्यौहारों पर रिश्तेदारों के सामने झूठा चेहरा बनाकर के बधाईयाँ दे देना और पीठ पीछे हिसाब लगाना कि कितना मिला है और हमने कितना दिया है, दूसरों की ज़िन्दगी से तुलना करना। पति को देखकर यही ख़याल उठना कि, "कहाँ फँस गई हूँ!" लेकिन फिर भी अपने आप को ऐसा बंधन में पाना कि, "भाग भी नहीं सकती क्योंकि ये दो छोटे-छोटे बच्चे बैठे हैं, जाऊँ तो जाऊँ कहाँ?"

कल्पना से कहानी नहीं बता रहा हूँ। लोग आते हैं मेरे पास और यही पूरी दुनिया कि कहानी है, और अगर यही तुम्हें अपनी कहानी बनानी है तो देख लो। “कब की चली गई होती, कब का आग लगा दिया होता इसको। पर अब इन दो का क्या करूँ जो पैदा हो गए?”

फिर एक दिन पाना कि मैं प्रौढ़ हो गई हूँ, फिर पाना कि शरीर में बीमारियाँ हो गई हैं, कैल्शियम की कमी हो रही है। फिर जाकर चेक करवा रहे हो कि कहीं कैंसर तो नहीं है, क्योंकि रहना तो इसी शहर में है न। तुम्हारी कहानी में शामिल है इसी शहर में पड़े रहना जहाँ की हवा गन्दी, जहाँ का पानी गन्दा, जहाँ का खाना गन्दा, जहाँ की मिट्टी गन्दी। और यही तुम्हारा सपना है कि किसी बड़े शहर में रहें और बड़े शहर का मतलब भी नहीं समझते तुम। बड़े शहर का अर्थ है कैंसर। पर तुम कैंसर के लिए तैयार रहोगे क्योंकि तुमने मेडिकल इन्शुरेंस कराया होगा। तुम इतने समझदार हो न। तुम मेडिकल इन्शुरेंस कराते ही इसलिए हो क्योंकि कैंसर होना पक्का है।

बीच-बीच में पैसे बचा कर छुट्टियाँ मनाने चले जाना और बड़ा खुश महसूस करना कि दार्जिलिंग घूम आए, ऊटी घूम आए, और थोड़ा पैसा ज़्यादा हो तो मॉरिशस घूम आए। और अपनी सारी फ़ोटो को फेसबुक और ट्विटर पर लगाना ताकि दुनिया को यह भ्रम हो जाए कि तुम खुश हो। जानते सिर्फ तुम हो कि तुम क्या हो। पति के साथ, बच्चे के साथ अपनी फ़ोटो लगा देना ताकि दुनिया को ये लगे कि तुम बहुत खुश हो।

यह खाका खींच दिया है, चाहिए तो बोलो। जितने सब यहाँ बैठे हो, सब इसी ओर बढ़ रहे हो, तेज़ी से बढ़ रहे हो, जैसे पहाड़ी ढलान है और गाड़ी न्यूट्रल में है, और ब्रेक फेल हैं। अब देख लो कि रोकना कैसे है।

और सुनना चाहोगे झाँकियाँ? बच्चों का होमवर्क, सेक्स को लेकर पति से तकरार क्योंकि पहले तीन-चार महीने तो अच्छा लगता है, उसके बाद सारा आकर्षण जाता रहता है। पर शरीर है, उसे बीच-बीच में खुजली उठेगी और तुम पाओगे कि मन साथ नहीं दे रहा, जैसे कोई रूटीन हो कि होना ही चाहिए। और जो बातें तुम्हें आकर्षक लगती हैं, उन पर घृणा आएगी।

तीस दिन काम करोगे, किसलिए? कि एक दिन तन्ख्वाह मिल जाए। तन्ख्वाह मिलेगी एक दिन और तीस दिन क्या करोगे? इंतज़ार। खड़े रहोगे अपने बॉस के सामने जैसे वो अपने बॉस के सामने खड़ा रहता है, और बॉस अपने बॉस के सामने और बॉस का बॉस अपने बॉस के सामने। (व्यंग्यात्मक तरीके से हँसते हुए) “कितना रोचक है! हम इसी के लिए तो सब कुछ कर रहे हैं, हमारा सुनहरा भविष्य!”

पूरी तैयारी कर ली गई है तुम्हें इसमें धकेलने की। शादी वाले भी तैयार हैं, नौकरी देने वाला भी तैयार है। और कुछ तो मन में सोच रहे हैं कि कितना रोमांचक है सब। (व्यंग्य करते हुए) “यही तो हमें चाहिए।”

फिर से एक चुनौती दे रहा हूँ, क्या ज़िन्दगी इस सब के अलावा भी कुछ हो सकती है? और इसके साथ आश्वासन भी दे रहा हूँ, हाँ हो सकती है अगर तुम्हें अपने आप से प्यार है तो। अगर खुद से नफ़रत ही करते हो, तो छोड़ो।

ज़िंदगी निश्चित रूप से इसके अलावा भी हो सकती है, पर ज़िम्मेदारी तुम्हारी है। तुम्हें जगना पड़ेगा, तुम्हें चेतना पड़ेगा, तुम्हें इस कहानी को बदलना पड़ेगा। और उसमें डर है, और उसमें तुम्हें विरोध बहुत मिलेगा, उसमें बहुत लोग तुम्हारे सामने खड़े हो जाएँगे कि, "नहीं तुम चुपचाप वो करो जो हम तुमसे कह रहे हैं! बड़ी होशियार हो गई है, बहुत बोलना आ गया है!”

इन विरोधों को झेलने को तैयार हो, तो कुछ कोई दूसरी संभावना है, नहीं तो बस यही है। है दम? सवाल ज़िंदगी का है, उससे ज़रा भी छोटा नहीं। सवाल जीवन-मरण का ही है। है दम?

इससे हटकर जो कहानी होगी, उसके बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता। वो नई कहानी होगी, जो तुम लिखोगी। जो

नया है उसे मैं कैसे बता दूँ? वो एकदम नई कहानी होगी। अभी से उसकी कल्पना नहीं की जा सकती, उसे पहले से ही निर्धारित नहीं किया जा सकता। और इसलिए वो बहुत प्यारी होगी क्योंकि बिलकुल ताज़ी, एकदम नई होगी।

अब चुनौती तुम्हारे सामने है, तुम देख लो कि तुम्हें नई कहानी लिखनी है या इसी पर चलते रहना है।

....

(उत्तर प्रदेश, 2013)

✿ ✿ ✿ ✿